प्राकृत भारती प्रकाशन : २१ :

जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

लेखक
डा० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

१. नरेन्द्रकुमार सागरमल सराफा, शाजापुर (म० प्र०)
२. मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी–१
३. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५
४. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, यति श्यामलालजी का उपाश्रय, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर–३०२००२

प्रकाशन वर्ष

सन् १९८२

वीर निर्वाण सं० २५०९

मूल्य : चौदह रुपये

Rs. 14·00

मुद्रक

कुमार प्रिन्टर्स

पाण्डेयपुर

वाराणसी

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज के युग में जिस सामाजिक चेतना, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए धर्मों का समन्वयात्मक दृष्टि से निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, ताकि धर्मों के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटा जा सके और प्रत्येक धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध हो सके। इस दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य में रखकर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक एवं भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डॉ० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों पर एक बृहद्काय शोध-प्रबन्ध आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व लिखा था। उसी के कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित अध्यायों से प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का प्रणयन किया गया है। इस ग्रन्थ में कर्म सिद्धान्त, कर्म का शुभत्व एवं अशुभत्व, कर्म बन्ध के कारण एवं स्वरूप, बन्धन से मुक्ति की ओर आदि विषयों पर विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक दृष्टि से विस्तार से विचार किया है। लेखक की दृष्टि निष्पक्ष, उदार, संतुलित एवं समन्वयात्मक है। आशा है विद्वत्जन उनके इस व्यापक अध्ययन से लाभान्वित होंगे।

प्राकृत भारती द्वारा इसके पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारशास्त्र एवं प्राकृत भाषा के २० ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, उसी क्रम में यह उसका २१वाँ प्रकाशन है। इसके प्रकाशन में हमें विभिन्न लोगों का विविध रूपों में जो सहयोग मिला है उसके लिए हम उन सबके आभारी हैं। कुमार प्रिन्टर्स ने इसके मुद्रण कार्य को सुन्दर एवं कलापूर्ण ढंग से पूर्ण किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी हैं।

देवेन्द्रराज मेहता — सचिव

विनयसागर — संयुक्त सचिव

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

विषय-सूची

अध्याय १

कर्म-सिद्धान्त

●

अध्याय २

कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व

अध्याय ३

कर्म-बन्ध के कारण, स्वरूप एवं प्रक्रिया

०

अध्याय ४

बन्धन से मुक्ति की ओर (संवर और निर्जरा)

कर्म-सिद्धान्त

§ १. नैतिक विचारणा में कर्म-सिद्धान्त का स्थान

सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मों की शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होने की धारणा में उसका विश्वास बना रहे। कोई भी आचारदर्शन इस सिद्धान्त की स्थापना किये बिना जनसाधारण को नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाये रखने मे सफल नहीं होता।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता के क्षेत्र में आनेवाले वर्तमानकालिक समस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म भूतकालीन कर्मों से प्रभावित होते हैं और भविष्य के कर्मों पर अपना प्रभाव डालने की क्षमता से युक्त होते हैं। संक्षेप में, वैज्ञानिक जगत् में तथ्यों एवं घटनाओं की व्याख्या के लिए जो स्थान कार्य-कारण सिद्धान्त का है, आचारदर्शन के क्षेत्र में वही स्थान 'कर्म-सिद्धान्त' का है। प्रोफेसर हरियन्ना के अनुसार, "कर्म-सिद्धान्त का आशय यही है कि नैतिक जगत् में भी भौतिक जगत् की भाँति, पर्याप्त कारण के बिना कुछ घटित नहीं हो सकता। यह समस्त दुःख का आदि स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोजकर ईश्वर और प्रतिवेशी के प्रति कटुता का निवारण करता है।"[1] अतीतकालीन जीवन ही वर्तमान व्यक्तित्व का विधायक है। जिस प्रकार कोई भी वर्तमान घटना किसी परवर्ती घटना का कारण बनती है उसी प्रकार हमारा वर्तमान आचरण हमारे परवर्ती आचरण एवं चरित्र का कारण बनता है। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले जब यह कहते हैं "मानव चरित्र का निर्माण होता है।"[2] तो उनका तात्पर्य यही है कि अतीत के कृत्य ही वर्तमान चरित्र के निर्माता हैं और इसी वर्तमान चरित्र के आधार पर हमारे भावी चरित्र (व्यक्तित्व) का निर्माण होता है।

कर्म-सिद्धान्त की आवश्यकता आचारदर्शन के लिए उतनी ही है, जितनी विज्ञान के लिए कार्यकारण सिद्धान्त की। विज्ञान कार्यकारण सिद्धान्त में आस्था प्रकट करके ही आगे बढ़ सकता है और आचारदर्शन कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही समाज में नैतिकता के प्रति निष्ठा जागृत कर सकता है। जिस प्रकार कार्यकारण-सिद्धान्त के परित्याग करने पर वैज्ञानिक गवेषणाएँ निरर्थक हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त से विहीन आचारदर्शन भी अर्थशून्य होता है। प्रो० वेंकटरमण लिखते हैं कि 'कर्म

१. आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासफी, पृ० ७९.
२. एथिकल स्टडीज पृ० ५३.

सिद्धान्त कार्यकारण सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचरण के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में कुछ भी संयोग अथवा स्वच्छन्दता का परिणाम नहीं है।'[1] जगत् में सभी कुछ किसी नियम के अधीन हैं। डॉ० आर० एस० नवलक्खा का कथन है कि 'यदि कार्यकारण-सिद्धान्त जागतिक तथ्यों की व्याख्या को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है, तो फिर उसका नैतिकता के क्षेत्र में प्रयोग करना न्यायिक क्यों नहीं होगा।'[2] मैक्समूलर ने भी लिखा है कि 'यह विश्वास कि कोई भी अच्छा या बुरा कर्म (बिना फल दिये) समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का ठीक वैसा ही विश्वास है जैसा कि भौतिक जगत् में ऊर्जा की अविनाशिता के नियम का विश्वास है।'[3] कर्म-सिद्धान्त और कार्यकारण-सिद्धान्त में साम्य होते हुए भी उनके विषयों की प्रकृति के कारण दोनों में जो मौलिक अन्तर है, उसे ध्यान में रखना चाहिए। भौतिक जगत् में कार्यकारण-सिद्धान्त का विषय जड़ पदार्थ होते हैं, अतः उसमें जितनी नियतता होती है वैसी नियतता प्राणीजगत् में लागू होनेवाले कर्म-सिद्धान्त में नहीं हो सकती। यही कारण है कि कर्म-सिद्धान्त में नियतता और स्वतन्त्रता का समुचित संयोग होता है।

उपयोगिता के तर्क (प्रैग्मेटिक लॉजिक) की दृष्टि से भी यह धारणा आवश्यक और औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है कि हम आचारदर्शन में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करें, जो नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फल के आधार पर उनके पूर्ववर्ती और अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या भी कर सके तथा प्राणियों को शुभ की ओर प्रवृत्त और अशुभ से विमुख करे।

भारतीय चिन्तकों ने कर्म-सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा न केवल नैतिक क्रियाओं के फल की अनिवार्यता प्रकट की, वरन् उनके पूर्ववर्ती कारकों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या भी की, साथ ही सृष्टि के वैषम्य का सुन्दरतम समाधान भी किया।

§ २. कर्म-सिद्धान्त की मौलिक स्वीकृतियाँ और फलितार्थ

कर्म-सिद्धान्त की प्रथम मान्यता यह है कि प्रत्येक क्रिया उसके परिणाम से जुड़ी है। उसका परवर्ती प्रभाव और परिणाम होता है। प्रत्येक नैतिक क्रिया अनिवार्यतया फलयुक्त होती है, फलशून्य नहीं होती। कर्म-सिद्धान्त की दूसरी मान्यता यह है कि उस परिणाम की अनुभूति वही व्यक्ति करता है जिसने पूर्ववर्ती क्रिया की है। पूर्ववर्ती क्रियाओं का कर्ता ही उसके परिणाम का भोक्ता होता है। तीसरे, कर्म-सिद्धान्त यह भी मानकर चलता है कि कर्म और उसके विपाक की यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। जब इन तीनों प्रश्नों का विचार करते हैं तो शुभाशुभ नैतिक

---

१. फिलासाफिकल क्वाटरली, अप्रैल १९३२, पृ० ७२.

२. शांकर्स ब्रह्मवाद, पृ० २४८.

३. थ्री लेक्चरर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ० १६५.

क्रियाओं के फलयुक्त या सविपाक होने के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन एकमत प्रतीत होते हैं। बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों ने निष्कामभाव एवं वीतरागदृष्टि से युक्त आचरण को शुभाशुभ की कोटि से परे अतिनैतिक (A moral) मानकर फलशून्य या अविपाकी माना है। जैन विचारणा ने ऐसे आचरण को फलयुक्त मानते हुए भी उसके फल या विपाक के सम्बन्ध में ईर्यापथिक बन्ध और मात्र प्रदेशोदय का जो विचार प्रस्तुत किया है उसके आधार पर यह मतभेद महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता है। जहाँ तक कर्मों का कर्ता और भोक्ता वही आत्मा होता है इस मान्यता का सम्बन्ध है, गीता और जैन दर्शन की दृष्टि से जो आत्मा कर्मों का कर्ता है, वही उनके कर्मफलों का भोक्ता है। भगवतीसूत्र में महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है, परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करता।[1] बुद्ध के सामने भी जब यही प्रश्न उपस्थित किया गया कि आत्मा स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है या परकृत सुख-दुःख का भोग करता है तो बुद्ध ने महावीर से भिन्न उत्तर दिया और कहा कि प्राणी या आत्मा के सुख-दुःख न तो स्वकृत हैं, न परकृत।[2] बुद्ध को स्वकृत मानने में शाश्वतवाद का और परकृत मानने में उच्छेदवाद का दोष दिखाई दिया, अतः उन्होंने मात्र विपाक-परम्परा को ही स्वीकार किया। जहाँ तक कर्म-विपाक-परम्परा के प्रवाह को अनादि मानने का प्रश्न है, तीनों ही आचारदर्शन समान रूप से उसे अनादि मानते हैं।

संक्षेप में इन आधारभूत मान्यताओं के फलितार्थ निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्ति का वर्तमान व्यक्तित्व उसके पूर्ववर्ती व्यक्तित्व (चरित्र) का परिणाम है और यही वर्तमान व्यक्तित्व (चरित्र) उसके भावी व्यक्तित्व का निर्माता है।

२. नैतिक दृष्टि से शुभाशुभ जो क्रियाएँ व्यक्ति ने की हैं वही उनके परिणामों का भोक्ता भी है। यदि वह उन सब परिणामों को इस जीवन में नहीं भोग पाता है, तो वह उन परिणामों को भोगने के लिए भावी जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी फलित होता है।

३. साथ ही इन परिणामों के भोग के लिए इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् दूसरा शरीर ग्रहण करनेवाला कोई स्थायी तत्त्व भी होना चाहिए। इस प्रकार नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फलभोग के साथ आत्मा की अमरता का सिद्धान्त जुड़ जाता है। यदि कर्म-सिद्धान्त की मान्यता के साथ आत्मा की अमरता स्वीकार नहीं की जाती है, तो जैन विचारकों की दृष्टि में कृतप्रणाश और अकृतभोग के दोष उपस्थित होते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा की अमरता या नित्यता की धारणा के अभाव में कर्म-सिद्धान्त काफी निर्बल पड़ जाता है। इस प्रकार आत्मा की अमरता की धारणा कर्म-सिद्धान्त की अनिवार्य फलश्रुति है।

---

१. भगवतीसूत्र, १।२।६४.
२. संयुत्तनिकाय, १२।१७.

४. कर्म-सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि आचार के क्षेत्र में शुभ और अशुभ ऐसी दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। साथ ही शुभ प्रवृत्ति का फल शुभ और अशुभ प्रवृत्ति का फल अशुभ होता है।

५. कर्म-सिद्धान्त चेतन आत्म-तत्त्व को प्रभावित करनेवाली प्रत्येक घटना एवं अनुभूति के कारण की खोज बाह्य जगत् में नहीं करता, वरन् आन्तरिक जगत् में करता है। वह स्वयं चेतना में ही उसके कारण को खोजने की कोशिश करता है।

§ ३. कर्म-सिद्धान्त का उद्भव

कर्म-सिद्धान्त का उदभव कैसे हुआ, यह विचारणीय विषय है। भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में कर्म-सिद्धान्त का विकास तो हुआ है, लेकिन उसके सर्वांगीण विकास का श्रेय जैन परम्परा को ही है। पं० सुखलालजी का कथन है कि 'यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्मसम्बन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रंथ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके विपरीत जैन दर्शन में कर्मसम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत है।'[1] वैदिक परम्परा की प्रारम्भिक अवस्था में उपनिषद्काल तक कोई ठोस कर्म-सिद्धान्त नहीं बन पाया था, यद्यपि वैदिक साहित्य में ऋत् के रूप में उसका अस्पष्ट निर्देश अवश्य उपलब्ध है। प्रो० मालवणिया का कथन है कि 'आधुनिक विद्वानों में इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि उपनिषदों के पूर्वकालीन वैदिक साहित्य में कर्म या अदृष्ट की कल्पना का स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता। कर्म कारण है ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्वसम्मतवाद हो, यह भी नहीं कहा जा सकता।'[2] वैदिक साहित्य में ऋत के नियम को स्वीकार किया गया है, लेकिन उसकी विस्तृत व्याख्या उसमें उपलब्ध नहीं है। पूर्व युग में जिन विचारकों ने इस वैचित्र्यमय सृष्टि, वैयक्तिक विभिन्नताओं, व्यक्ति की विभिन्न सुखद-दुःखद अनुभूतियों तथा सद्-असद् प्रवृत्तियों का कारण जानने का प्रयास किया था, उनमें से अधिकांश ने इस कारण की खोज बाह्य तथ्यों में की। उनके इन प्रयासों के फलस्वरूप विभिन्न धाराएँ उद्भूत हुईं।

§ ४. कारण सम्बन्धी विभिन्न मान्यताएँ

श्वेताश्वतरोपनिषद्, सूत्रकृतांग, अंगुत्तरनिकाय, महाभारत के शान्तिपर्व तथा गीता में इन विविध विचारधाराओं के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। उनमें कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

१. **कालवाद**—समग्र जागतिक तथ्यों, वैयक्तिक विभिन्नताओं तथा व्यक्ति के सुख-दुःख एवं क्रियाकलापों का एकमात्र कारण काल है।

२. **स्वभाववाद**—जो भी घटित होता है या होगा, उसका आधार वस्तु का अपना स्वभाव है। स्वभाव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ० २१९

२. आत्ममीमांसा, पृ० ८०.

३. नियतिवाद—घटनाओं का घटित होना पूर्वनियत है और वे उसी रूप में घटित होती हैं। उन्हें कोई कभी भी अन्यथा नहीं कर सकता। जैसा होना होता है, वैसा ही होता है।

४. यदृच्छावाद—जगत की किसी भी घटना का कोई भी नियत हेतु नहीं है, उसका घटित होना मात्र एक संयोग (chance) है। इस प्रकार यह संयोग पर बल देता है तथा अहेतुवादी धारणा का प्रतिपादन करता है।

५. महाभूतवाद—यह भौतिकवादी धारणा है। इसके अनुसार पृथ्वी, अग्नि, वायु और पानी ये चारों महाभूत ही मूलभूत कारण हैं, सभी कुछ इनके विभिन्न संयोगों का परिणाम है।

६. प्रकृतिवाद—प्रकृतिवाद त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही समग्र जागतिक विकास तथा मानवीय सुख-दुःख एवं बन्धन का कारण मानता है।

७. ईश्वरवाद—इसके अनुसार ईश्वर ही जगत् का रचयिता एवं नियन्ता है। जो भी कुछ होता है वह सब उसी की इच्छा का परिणाम है।

जैन और बौद्ध आगमों में एवं औपनिषदिक साहित्य में इन सभी मान्यताओं की आलोचना की गयी है। यह समालोचना ही एक व्यवस्थित कर्म-सिद्धान्त की स्थापना का आधार बनी है। डा० नथमल टाँटिया के शब्दों में सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं के विरोध में ही कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

§ ५. औपनिषदिक दृष्टिकोण

औपनिषदिक साहित्य में सर्वप्रथम इन विविध मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। जहाँ पूर्ववर्ती ऋषियों ने जगत् के वैचित्र्य एवं वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण किन्हीं बाह्य तत्त्वों को मानकर सन्तोष किया होगा, वहाँ औपनिषदिक ऋषियों ने इन मान्यताओं की समीक्षा के द्वारा आन्तरिक कारण खोजने का प्रयास किया। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा सुख-दुःख में प्रेरित होकर संसार-यात्रा (व्यवस्था) का अनुवर्तन कर रहे हैं? ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि (प्रकृति), पुरुष एवं इनका संयोग कारण है? इस पर विचार करना चाहिए। ऋषि का कहना कि काल स्वभाव आदि कारण नहीं हो सकते, न इनका संयोग ही कारण हो सकता है; क्योंकि इनमें से प्रत्येक तथा इनका संयोग सभी आत्मा से 'पर' है, अतः इनका आत्मा से तादात्म्यभाव नहीं माना जा सकता। जीवात्मा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो स्वयं सुख-दुःख के अधीन है।[2] श्वेताश्वतर भाष्य में काल, स्वभाव आदि के कारण न हो सकने के सम्बन्ध में यह भी तर्क दिया गया है कि कालादि में

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२०.
२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।१-२.

से प्रत्येक अलग-अलग रूप में कारण नहीं माने जा सकते, ऐसा मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, क्योंकि लोक में कालादि निमित्तों के परस्पर मिलने पर ही कार्य होते देखा जाता है।[1]

कर्म-सिद्धान्त की उद्भावना में औपनिषदिक चिन्तन का योगदान यह है कि उसमें तत्कालीन काल, स्वभाव, नियति आदि सिद्धान्तों की अपूर्णता को अभिव्यक्त करने का प्रयास मात्र किया गया। उसने न केवल इनका निषेध किया, वरन् इनके स्थान पर ईश्वर (ब्रह्म) को कारण मानने का प्रयास किया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि कुछ बुद्धिमान् तो स्वभाव को कारण बतलाते हैं और कुछ काल को। किन्तु ये मोहग्रस्त हैं (अतः ठीक नहीं जानते)। यह भगवान् की महिमा ही है, जिससे लोक में यह ब्रह्मचक्र घूम रहा है।[2] लेकिन वह ब्रह्म भी पूर्वकथित विभिन्न कारणों का अधिष्ठान ही बन सका, कारण नहीं।[3] भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्म न कारण है, न अकारण, न कारण-अकारण उभयरूप है, न दोनों से भिन्न है। अद्वितीय परमात्मा का कारणत्व उपादान अथवा निमित्त स्वतः कुछ भी नहीं है। इस प्रकार औपनिषदिक चिन्तन में कारण क्या है ? यह निश्चय नहीं हो सका।

गीता का दृष्टिकोण

गीता में कालवाद, स्वभाववाद, प्रकृतिवाद, दैववाद एवं ईश्वरवाद के संकेत मिलते हैं। गीताकार इन सब सिद्धान्तों को यथावसर स्वीकार करके चलता है। वह कभी काल को, कभी प्रकृति को, कभी स्वभाव को, तो कभी पुरुष अथवा ईश्वर को कारण मानता है।[4] यद्यपि गीताकार पूर्ववर्ती विचारकों से इस बात में तो भिन्न है कि इनमें से वह किसी एक ही सिद्धान्त को मानकर नहीं चलता, वरन् यथावसर सभी के मूल्य को स्वीकार करके चलता है; तथापि उसमें स्पष्ट समन्वय का अभाव-सा लगता है और इस तरह सभी सिद्धान्त पृथक् से रह जाते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गीताकार अन्तिम कारण के रूप में ईश्वर को ही स्वीकार करता है।

बौद्ध दृष्टिकोण

श्रमण-परम्परा में इन विभिन्न वादों का निराकरण किया गया एवं ब्रह्म के स्थान पर कर्म को ही इसका कारण माना गया। बुद्ध और महावीर दोनों ने कर्म को ही ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और जगत् के वैचित्र्य का कारण कर्म है, ऐसी उद्घोषणा की। ईश्वरवादी दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है, वही स्थान बौद्ध और जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त ने ले लिया है।[1]

अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध ने विभिन्न कारणतावादी और अकारणतावादी दृष्टिकोणों की समीक्षा की है।[१] जगत् के व्यवस्था नियम के रूप में बुद्ध स्पष्टरूप से कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सुत्तनिपात में स्वयं बुद्ध कहते हैं, किसी का कर्म नष्ट नहीं होता। कर्ता उसे प्राप्त करता ही है। पापकर्म करनेवाला परलोक में अपने को दुःख में पड़ा पाता है। संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है। रथ का चक्र जिस प्रकार आणी से बँधा रहता है उसी प्रकार प्राणी कर्म से बँधे रहते हैं।[२] बौद्ध मन्तव्य को आचार्य नरेन्द्रदेव निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, जीव-लोक और भाजन-लोक (विश्व) की विचित्रता ईश्वरकृत नहीं है। कोई ईश्वर नहीं है जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की हो। लोकवैचित्र्य कर्मज है, यह सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है।[3] बौद्ध विचार में प्रकृति एवं स्वभाव को मात्र भौतिक जड़-जगत् का कारण माना गया है। बुद्ध स्पष्ट रूप से कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। बुद्ध से शुभ माणवक ने प्रश्न किया था, 'हे गौतम, क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूप वाले में हीनता और उत्तमता दिखाई पड़ती है? हे गौतम, यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में आते हैं और दीर्घायु भी; बहुरोगी भी अल्परोगी भी; कुरूप भी रूपवान् भी; दरिद्र भी धनवान भी; निर्बुद्धि भी प्रज्ञावान् भी। हे गौतम, क्या कारण है कि यहाँ प्राणियों में इतनी हीनता और प्रणीतता (उत्तमता) दिखाई पड़ती है?' भगवान् बुद्ध ने जो इसका उत्तर दिया है वह बौद्ध धर्म में कर्मवाद के स्थान को स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं, हे माणवक प्राणी कर्मस्वयं (कर्म ही जिनका अपना), कर्म-दायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।[४] बौद्ध दर्शन में कर्म को चैतसिक प्रत्यय के रूप स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि कर्म के कारण ही आचार, विचार एवं स्वरूप की यह विविधता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने कर्म को कारण मान कर प्राणियों की हीनता एवं प्रणीतता का उत्तर तो बड़े ही स्पष्ट रूप में दिया है, फिर भी यह कर्म का नियम किस प्रकार अपना कार्य करता है, इसका काल-स्वभाव आदि से क्या सम्बन्ध है, इसके बारे में उसमें इतना अधिक विस्तृत विवेचन नहीं है जितना कि जैन दर्शन में है।

जैन दृष्टिकोण

जैन दर्शन में भी कारणता सम्बन्धी इन विविध सिद्धान्तों की समीक्षा की गयी। सूत्रकृतांग एवं उसके परवर्ती जैन साहित्य में इनमें से अधिकांश विचारणाओं की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। यहाँ विस्तार में न जाकर उन समीक्षाओं की

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।६१.
२. सुत्तनिपात वासेट्ठसुत्त, ६०-६१.
३. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २५०.
४. मज्झिमनिकाय, ३।४५.

सारभूत बातों को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त है। सामान्यतया व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का आधार काल नहीं हो सकता, क्योंकि यदि काल ही एकमात्र कारण है तो एक ही समय में एक व्यक्ति सुखी और दूसरा व्यक्ति दुःखी नहीं हो सकता। फिर अचेतन काल हमारी सुख-दुःखात्मक चेतन अवस्थाओं का कारण कैसे हो सकता है ? यदि यह मानें कि व्यक्ति की सद्-असद् प्रवृत्तियों का कारण या प्रेरक तत्त्व स्वभाव है और हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं, तो नैतिक सुधार, नैतिक प्रगति कैसे होगी ? दस्यु अंगुलिमाल भिक्षु अंगुलिमाल में नहीं बदल सकेगा। नियतिवाद को स्वीकारक रने पर भी जीवन में प्रयत्न या पुरुषार्थ का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार ईश्वर को ही प्रेरक या कारण मानने पर व्यक्ति की शुभाशुभ प्रवृत्तियों के लिए प्रशंसा या निन्दा का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। यदि ईश्वर ही वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण है तो फिर वह न्यायी नहीं कहा जा सकेगा। पूर्व-निर्देशित इन विभिन्न वादों में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद और ईश्वरवाद इसलिए भी अस्वीकार्य हैं कि इनमें कारण को बाह्य माना गया, लेकिन कारण-प्रत्यय को जीवात्मा से बाह्य मानने पर निर्धारणवाद मानना पड़ेगा और निर्धारणवाद या आत्मा की चयन सम्बन्धी परतन्त्रता में नैतिक उत्तरदायित्व का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। प्रकृतिवाद को मानने पर आत्मा को अक्रिय या कूटस्थ मानना पड़ेगा, जो नैतिक मान्यता के अनुकूल सिद्ध नहीं होगा। उसमें आत्मा के बन्धन और मुक्ति की व्याख्या सम्भव नहीं। महाभूतों को कारण मानने पर देहात्मवाद या उच्छेदवाद को स्वीकार करना होगा, लेकिन आत्मा के स्थायी अस्तित्व के अभाव में कर्मफल व्यतिक्रम और नैतिक प्रगति की धारणा का कोई अर्थ नहीं रहेगा। कृतप्रणाश और अकृतभोग की समस्या उत्पन्न हो जायेगी, साथ ही भौतिकवादी दृष्टि भोगवाद की ओर प्रवृत्त करेगी और जीवन के उच्च मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रहेगा। यदृच्छावाद को स्वीकार करने पर सबकुछ संयोग पर निर्भर होगा, लेकिन संयोग या अहेतुकता भी नैतिक जीवन की दृष्टि से समीचीन नहीं है। नैतिक जीवन में एक व्यवस्था तथा क्रम है, जिसे अहेतुवादी नहीं समझा सकता।

इन सभी सिद्धान्तों की उपर्युक्त अक्षमताओं को ध्यान में रखते हुए जैन दर्शन ने कर्म-सिद्धान्त की स्थापना की। जैन विचारधारा ने संसार की प्रक्रिया को अनादि मानते हुए जीवों के सुख-दुःख एवं उनकी वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण कर्म को माना। भगवतीसूत्र में महावीर स्पष्ट कहते हैं कि जीव स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है, परकृत का नहीं।[1] फिर भी जैन कर्म-सिद्धान्त की विशेषता यह है कि वह अपने कर्म-सिद्धान्त में उपर्युक्त विभिन्न मतों को यथोचित स्थान दे देता है। जैन कर्म-सिद्धान्त में कालवाद का स्थान इस रूप में है कि कर्म का फलदान उसके विपाक-काल पर ही निर्भर होता है। प्रत्येक कर्म की अपने विपाक की दृष्टि से एक नियत काल-

१. भगवतीसूत्र, १।२।६४.

मर्यादा होती है और सामान्यतया कर्म उस नियत समय पर ही अपना फल प्रदान करता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म का नियत स्वभाव होता है। कर्म अपने स्वभाव के अनुसार ही फल प्रदान करता है, सामान्यतया इस धारणा को यह कहकर भी प्रकट किया जा सकता है कि व्यक्ति अपने आचरण के द्वारा एक विशेष चरित्र (स्वभाव) का निर्माण कर लेता है। वही व्यक्ति का चरित्र उसके भावी आचरण को नियत करता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव के आधार पर ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। पूर्व-अर्जित कर्म ही व्यक्ति की नियति बन जाते हैं। इस अर्थ में कर्म-सिद्धान्त में नियति का तत्त्व भी प्रविष्ट है। कर्म के निमित्त कारण के रूप में कर्मपरमाणुओं को स्थान देकर कर्म-सिद्धान्त भौतिक तत्त्व के मूल्य को भी स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त में व्यक्ति की कर्म की चयनात्मक स्वतन्त्रता को स्वीकार कर यदृच्छावादी धारणा को भी स्थान दिया गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपना निर्माता, नियन्ता और स्वामी है। इस रूप में वह स्वयं ही ईश्वर भी है। इस प्रकार जैन-दर्शन अनेक एकांगी धारणाओं के समुचित समन्वय के आधार पर अपना कर्म-सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।

§ ६. जैन दर्शन का समन्वयवादी दृष्टिकोण

जैन आचार्यों ने काल, स्वभाव आदि सम्बन्धी विभिन्न कारकों और पुरुषार्थ के समन्वय में आचारदर्शन के एक सच्चे सिद्धान्त की खोज करने का प्रयास किया है। आचार्य सिद्धसेन का कहना है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रूप में कार्य की व्याख्या करने में अयथार्थ बन जाते हैं, जबकि यही सिद्धान्त परस्पर सापेक्ष रूप में समन्वित होकर कार्य की व्याख्या करने में सफल हो जाते हैं।[1]

गीता के द्वारा जैन दृष्टिकोण का समर्थन

गीता में जैन दर्शन के इस समन्वयवादी दृष्टिकोण का समर्थन प्राप्त होता है। गीता कहती है कि मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो भी उचित और अनुचित कर्म करता है उसके कारण के रूप में अधिष्ठान, कर्त्ता, इन्द्रियाँ, विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ और दैव यह पाँचों ही कारण होते हैं।[2]

वस्तुतः मानवीय व्यवहार की प्रेरणा एवं आचरण के रूप में विभिन्न नियतिवादी तत्त्व और मनुष्य का पुरुषार्थ दोनों ही कार्य करते हैं। इन दोनों के समन्वय के द्वारा ही नैतिक उत्तरदायित्व एवं नैतिक जीवन के प्रेरक की सफल व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म-सिद्धान्त हमें एक ऐसा प्रत्यय देता है जिसमें विभिन्न कारकों का सुन्दर समन्वय खोजा जा सकता है और जो नैतिकता के लिए सम्यक् जीवनदृष्टि प्रदान करता है।

---

१. सन्मति प्रकरण, ३।५३.

२. गीता, १८:१४.

§ ७. 'कर्म' शब्द का अर्थ

'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं। साधारणतः 'कर्म' शब्द का अर्थ 'क्रिया' है, प्रत्येक प्रकार की हलचल, चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, क्रिया कही जाती है।

गीता में कर्म शब्द का अर्थ

मीमांसादर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ-याग आदि क्रियाओं से है जबकि गीता वर्णाश्रम के अनुसार किये जानेवाले स्मार्त-कार्यो को भी कर्म कहती है। तिलक के अनुसार गीता में कर्म शब्द केवल यज्ञ-याग एवं स्मार्त कर्म के ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, वरन् सभी प्रकार के क्रिया-व्यापारों के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१] मनुष्य जो कुछ भी करता है, जो भी कुछ नहीं करने का मानसिक संकल्प या आग्रह रखता है वे सभी कायिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ भगवद्गीता के अनुसार कर्म ही हैं।[२]

बौद्ध दर्शन में कर्म का अर्थ

बौद्ध विचारकों ने भी कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में किया है। वहाँ भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल कर्म अथवा अकुशल कर्म कहे जाते हैं। बौद्धदर्शन में यद्यपि शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर भी वहाँ केवल चेतना को प्रमुखता दी गयी है और चेतना को ही कर्म कहा गया है। बुद्ध ने कहा है, 'चेतना ही भिक्षुओ कर्म है ऐसा मैं कहता हूँ, चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है काया से, वाणी से या मन से।'[3] यहाँ पर चेतना को कर्म कहने का आशय केवल यही है कि चेतना के होने पर ही ये समस्त क्रियाएँ सम्भव हैं। बौद्ध दर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है, कि दूसरे कर्मो का निरसन किया गया है। उसमें कर्म के सभी पक्षों का सापेक्ष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से तीनों प्रकार के कर्मो का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि से कायकर्म ही प्रधान है क्योंकि मनकर्म और वाचाकर्म भी काया पर ही आश्रित हैं। स्वभाव की दृष्टि से वाक्कर्म ही प्रधान है, क्योंकि काय और मन स्वभावतः कर्म नहीं हैं, कर्म उनका स्वस्वभाव नहीं है। यदि समुत्थान (आरम्भ) की दृष्टि से विचार करें तो मनकर्म ही प्रधान है, क्योंकि सभी कर्मो का आरम्भ मन से है। बौद्ध दर्शन में समुत्थान कारण को प्रमुखता देकर ही यह कहा गया है कि चेतना ही कर्म है। साथ ही इसी आधार पर कर्मो का एक द्विविध वर्गीकरण किया गया है—१. चेतना कर्म और २. चेतयित्वा कर्म। चेतना

---

१. गीतारहस्य, पृ० ५५-५६.

२. गीता ५।८-११.

३. अंगुत्तरनिकाय-उद्धृत बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४६३

मानस-कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनों वाचिक और कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गये हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है, लेकिन कर्म-सिद्धान्त में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से अधिक विस्तृत है। वहाँ पर कर्म शब्द में शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रिया, उस क्रिया का विशुद्ध चेतना पर पड़नेवाला प्रभाव एवं इस प्रभाव के फलस्वरूप भावी क्रियाओं का निर्धारण और उन भावी क्रियाओं के कारण उत्पन्न होनेवाली अनुभूति सभी समाविष्ट हो जाती है। साधारण रूप में कर्म शब्द से क्रिया, क्रिया का उद्देश्य और उसका फलविपाक तीनों ही अर्थ लिये जाते हैं। कर्म में क्रिया का उद्देश्य, क्रिया और उसके फलविपाक तक के सारे तथ्य सन्निहित हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं, 'केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नहीं हैं। (उसमें) कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा।'[2]

जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ

सामान्यतया क्रिया को कर्म कहा जाता है; क्रियाएँ तीन प्रकार की हैं—१. शारीरिक, २. मानसिक और ३ वाचिक। शास्त्रीय भाषा में इन्हें 'योग' कहा गया है। लेकिन जैन परम्परा में कर्म का यह क्रियापरक अर्थ कर्म शब्द की एक आंशिक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। उसमें क्रिया के हेतु पर भी विचार किया गया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि कर्म की परिभाषा में लिखते हैं, जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।[3] पं० सुखलालजी कहते हैं कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही कर्म कहलाता है।[4] इस प्रकार वे कर्म हेतु और क्रिया दोनों को ही कर्म के अन्तर्गत ले जाते हैं। जैन परम्परा में कर्म के दो पक्ष हैं—(१) राग-द्वेष, कषाय आदि मनोभाव और (२) कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल क्रिया का हेतु है और रागद्वेषादि क्रिया है। 'कर्मपुद्गल' से तात्पर्य उन जड़ परमाणुओं (शरीर-रासायनिक तत्त्वों) से है जो प्राणी की किसी क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर कर्मशरीर की रचना करते हैं और समय-विशेष के पकने पर अपने फल ('विपाक') के रूप में विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न कर अलग हो जाते हैं। इन्हें द्रव्य-कर्म कहते हैं। संक्षेप में जैन विचार में कर्म का तात्पर्य आत्मशक्ति को प्रभावित और कुंठित करनेवाले तत्त्व से है।

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा या चेतना की शुद्धता को प्रभावित करती है। जैन दर्शन उसे 'कर्म' कहता है। वही सत्ता वेदान्त में माया या अविद्या, सांख्य में प्रकृति, न्यायदर्शन में अदृष्ट और मीमांसा में

---

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २४९.
२. वही, पृ० २५५.
३. कर्मविपाक (कर्मग्रन्थ पहला), १.
४. दर्शन और चिन्तन, पृ० २२५.

अपूर्व के नाम से कही गयी है। बौद्ध दर्शन में वही कर्म के साथ-साथ अविद्या, संस्कार और वासना के नाम से जानी जाती है। न्यायदर्शन में अदृष्ट और संस्कार तथा वैशेषिक दर्शन के धर्माधर्म भी जैन दर्शन के कर्म के समानार्थक हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति (त्रिगुणात्मक सत्ता) और योगदर्शन में आशय शब्द भी इसी अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। शैव दर्शन का 'पाश' शब्द भी जैन दर्शन के कर्म का समानार्थक है। यद्यपि उपर्युक्त शब्द कर्म के पर्यायवाची कहे जा सकते हैं; फिर भी प्रत्येक शब्द अपने गहन विश्लेषण में एक-दूसरे से पृथक् अर्थ की अभिव्यंजना भी करता है। फिर भी सभी विचारणाओं में यह समानता है कि सभी कर्म-संस्कार को आत्मा का बन्धन या दुःख का कारण स्वीकार करते हैं। जैन धर्म दो प्रकार के कारण मानता है—१. निमित्त कारण और २. उपादान कारण। कर्म-सिद्धान्त में कर्म के निमित्त कारण के रूप में कर्म-वर्गणा तथा उपादान कारण के रूप में आत्मा को स्वीकार किया गया है।

§ ८. कर्म का भौतिक स्वरूप

जैन दर्शन में बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या बिना अजीव (जड़) तत्त्व के विवेचन के सम्भव नहीं। आत्मा के बन्धन का कारण क्या है ? जब यह प्रश्न जैन दार्शनिकों के समक्ष आया, तो उन्होंने बताया कि आत्मा के बन्धन का कारण मात्र आत्मा नहीं हो सकता। पारमार्थिक दृष्टि से विचार किया जाये तो आत्मा में स्वतः के बन्धन में आने का कोई कारण नहीं है। जैसे बिना कुम्हार, चाक आदि निमित्तों के मिट्टी स्वतः घट का निर्माण नहीं कर सकती, वैसे ही आत्मा स्वतः बिना किसी बाह्य निमित्त के कोई भी ऐसी क्रिया नहीं कर सकता जो उसके बन्धन का कारण हो। वस्तुतः क्रोध आदि कषाय, राग, द्वेष एवं मोह आदि बन्धक मनोवृत्तियाँ भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकतीं जब तक कि वे कर्मवर्गणाओं के विपाक के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित नहीं होतीं। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जावे तो जिस प्रकार शरीररसायनों और रक्तरसायनों के परिवर्तन हमारे संवेगों (मनोभावों) का कारण होते हैं और संवेगों के कारण हमारे रक्तरसायन और शरीररसायन में परिवर्तन होते हैं, दोनों परिवर्तन परस्पर सापेक्ष हैं, उसी प्रकार कर्म के लिए आत्मतत्त्व और जड़ कर्म वर्गणाएँ परस्पर सापेक्ष हैं। जड़ कर्म वर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं और उन मनोभावों के कारण पुनः जड़ कर्म परमाणुओं का आस्रव एवं बन्ध होता है जो अपनी विपाक अवस्था में पुनः मनोभावों (कषायों) का कारण बनते हैं। इस प्रकार मनोभावों (आत्मिक प्रवृत्ति) और जड़ कर्म परमाणुओं के परस्पर प्रभाव का क्रम चलता रहता है। जैसे वृक्ष और बीज में पारस्परिक सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा के बन्धन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध मनोवृत्तियों (कषाय एवं मोह) और कर्म परमाणुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है। जड़ कर्म परमाणु और आत्मा में बन्धन की दृष्टि से क्रमशः निमित्त और उपादान का सम्बन्ध माना गया है। कर्म-पुद्गल बन्धन का निमित्त कारण है और आत्मा उपादान कारण है।

जैन विचारक एकान्त रूप में न तो आत्मा को ही बन्धन का कारण मानते हैं और न जड़ कर्म वर्गणाओं को, अपितु यह मानते हैं कि जड़ कर्म वर्गणाओं के निमित्त से आत्मा बन्ध करता है।

द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म

कर्म के द्रव्यात्मक और भावात्मक ये दो पक्ष हैं। प्रत्येक कर्म-संकल्प के हेतु के रूप में विचारक (उपादान कारण) और उस विचार का प्रेरक (निमित्त कारण) दोनों ही आवश्यक हैं। आत्मा के मानसिक विचार भाव-कर्म हैं और ये मनोभाव जिन निमित्त से होते हैं या जो इनका प्रेरक है वह द्रव्य कर्म है। कर्म के चेतन-अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं, 'पुद्गल-पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करनेवाली शक्ति भाव-कर्म है।'[1] कर्म-सिद्धान्त की समुचित व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि कर्म के आकार (form) और विषय-वस्तु (matter) दोनों ही हों। जड़-कर्म परमाणु-कर्म की विषयवस्तु हैं, और मनोभाव उसके आकार हैं। हमारे सुख-दुःखादि अनुभवों अथवा शुभाशुभ कर्मसंकल्पों के लिए कर्म परमाणु भौतिक कारण हैं और मनोभाव चैतसिक कारण हैं। आत्मा में जो मिथ्यात्व (अज्ञान) और कषाय (अनुचित वृत्ति) रूप, राग, द्वेष आदि भाव हैं वही भाव-कर्म है। भाव-कर्म आत्मा का वैभाविक परिणाम (दूषित वृत्ति) है और स्वयं आत्मा ही उसका उपादान है। भाव-कर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है, जैसे घट का आन्तरिक (उपादान) कारण मिट्टी है। द्रव्य कर्म सूक्ष्म कार्मण जाति के परमाणुओं का विकार है और आत्मा उसका निमित्त कारण है, जैसे कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को 'आवरण' और भाव-कर्म को 'दोष' के नाम से अभिहित किया है। चूंकि द्रव्य-कर्म आत्म-शक्तियों के प्रकटन को रोकता है, अतः वह 'आवरण' है और भाव-कर्म स्वयं आत्मा की ही विभावावस्था है, अतः वह 'दोष' है। जिस प्रकार जैन दर्शन में कर्म के आवरण और दोष दो कार्य होते हैं, उसी प्रकार वेदान्त में माया के दो कार्य माने गये हैं—आवरण और विक्षेप। जैनाचार्यों ने आवरण और दोष अथवा द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म के मध्य कार्य-कारण भाव स्वीकार किया है।[2] जैन कर्मसिद्धान्त में मनोविकारों का स्वरूप कर्म-परमाणुओं की प्रकृति पर निर्भर करता है और कर्म-परमाणुओं की प्रकृति का निर्धारण मनोविकारों के आधार पर होता है। इस प्रकार जैन धर्म में कर्म के चेतन और अचेतन दोनों पक्षों को स्वीकार किया गया है जिसे वह अपनी पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्यकर्म और भावकर्म कहता है।

जैसे किसी कार्य के लिए निमित्त और उपादान दोनों कारण आवश्यक हैं, वैसे ही जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा (जीव) के प्रत्येक कर्मसंकल्प के लिए उपादान-

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ६.

२. अष्टसहस्री, पृ० ५१; उद्धृत—स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२७.

रूप में भावकर्म (मनोविकार) और निमित्तरूप मे द्रव्यकर्म (कर्म-परमाणु) दोनों आवश्यक हैं। जड़ परमाणु ही कर्म का भौतिक या अचित् पक्ष है और जड़ कर्म-परमाणुओं से प्रभावित विकारयुक्त चेतना की अवस्था कर्म का चैत्तसिक पक्ष है। जैन दर्शन के अनुसार जीव की जो शुभाशुभरूप नैतिक प्रवृत्ति है, उसका मूल कारण तो मानसिक (भावकर्म) है लेकिन उन मानसिक वृत्तियों के लिए जिस बाह्य कारण की अपेक्षा है वही द्रव्य-कर्म है। इसे हम व्यक्ति का परिवेश कह सकते हैं। मनोवृत्तियों, कषायों अथवा भावों की उत्पत्ति स्वतः नही हो सकती, उसका भी कारण अपेक्षित है। सभी भाव जिस निमित्त की अपेक्षा करते है, वही द्रव्य-कर्म है। इसी प्रकार जब तक आत्मा मे कषायों (मनोविकार) अथवा भावकर्म की उपस्थिति नहीं हो, तब तक कर्म-परमाणु जीव के लिए कर्मरूप मे (बन्धन के रूप में) परिणत नहीं हो सकते। इस प्रकार कर्म के दोनों पक्ष अपेक्षित है।

द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म का सम्बन्ध

पं० सुखलालजी लिखते हैं कि भाव-कर्म के होने में द्रव्य-कर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म में भाव-कर्म निमित्त; दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।[1] इस प्रकार जैन दर्शन मे कर्म के चेतन और जड़ दोनों पक्षों में बीजांकुर-वत् पारस्परिक कार्यकारणभाव माना गया है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है और उनमे किसी को भी पूर्वापर नहीं कहा जा सकता, वैसे ही द्रव्यकर्म और भावकर्म में भी किसी पूर्वापरता का निश्चय नहीं किया जा सकता। यद्यपि प्रत्येक द्रव्यकर्म की अपेक्षा से उसका भावकर्म पूर्व होगा और प्रत्येक भावकर्म के लिए उसका द्रव्यकर्म पूर्व होगा। वस्तुतः इनमें सन्तति अपेक्षा से अनादि कार्य-कारण भाव है। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं कि भावकर्म के होने में पूर्वबद्ध द्रव्य-कर्म निमित्त है और वर्तमान में बध्यमान द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों में निमित्त नैमित्तिक रूप कार्यकारण सम्बन्ध है।[2]

(अ) बौद्ध दृष्टिकोण एवं उसकी समीक्षा

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि कर्मों के भौतिक पक्ष को क्यों स्वीकार करें? बौद्ध दर्शन कर्म के चैत्तसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है और यह मानता है कि बन्धन के कारण अविद्या, वासना, तृष्णादि चैत्तसिक तत्त्व ही हैं। डॉ० टांटिया इस सन्दर्भ में जैन मत की समुचितता पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि यह तर्क दिया जा सकता है कि क्रोधादि कषाय, जो आत्मा के बन्धन की स्थितियाँ हैं, वे आत्मा के ही गुण हैं और इसलिए आत्मा के गुणों (चैत्तसिक दशाओं) को आत्मा के बन्धन का कारण मानने में कोई कठिनाई नहीं आती है। लेकिन इस सम्बन्ध में जैन विचारकों का उत्तर यह होगा कि क्रोधादि कषाय अवस्थाएँ बन्ध की

१. कर्मविपाक, भूमिका, पृ० २४.

२. श्री अमर भारती, नव० १९६५, पृ० ९.

प्रकृतियाँ हैं, क्रोधादि कषाय अवस्था में होना तो स्वतः ही आत्मा का बन्धन है, वे बन्धन की उपाधि (निमित्तकारण) नहीं हो सकती। कषाय बन्धन का सृजन करती है, लेकिन उनकी उपाधि (condition) तो अनिवार्यतया उनसे भिन्न होनी चाहिए। क्योंकि कषाय आदि आत्मा की वैभाविक अवस्थाएँ है, इसलिए उनका कारक या उपाधि (निमित्त) आत्मा के गुणों से भिन्न होना चाहिए और इस प्रकार कषाय और बन्धन की उपाधि या निमित्तकारण अनिवार्य रूप से भौतिक होना चाहिए। यदि बन्धन का कारण आन्तरिक और चैत्तसिक ही है और किसी बाह्य तत्त्व से प्रभावित नहीं होता तो फिर उससे मुक्ति का क्या अर्थ होगा।[1] जैन मत के अनुसार यदि बन्धन और बन्धन का कारण दोनों ही समान प्रकृति के हैं तो उपादान और निमित्त कारण का अन्तर ही समाप्त हो जावेगा। यदि कषाय आत्मा में स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं तो वे उसका स्वभाव ही होगे और यदि वे आत्मा का स्वभाव हैं तो उन्हें छोड़ा नहीं जा सकेगा और यदि उन्हें छोड़ना सम्भव नहीं तो मुक्ति भी सम्भव नहीं होगी। दूसरे जो स्वभाव है वह आन्तरिक एवं स्वतः है और यदि स्वभाव में स्वतः बिना किसी बाह्य निमित्त के ही विकार आ सकता है, तो फिर बन्धन में आने की सम्भावना सदैव बनी रहेगी और मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। यदि पानी में स्वतः ही ऊष्णता उत्पन्न हो जावे तो शीतलता उसका स्वभाव नहीं हो सकता। आत्मा में भी यदि मनोविकार स्वतः ही उत्पन्न हो सके तो वह निर्विकार नहीं रह सकता। जैन दर्शन यह मानता है कि ऊष्णता के संयोग से जिस प्रकार पानी स्वगुण शीतलता को छोड़ विकारी हो जाता है, वैसे ही आत्मा जड़ कर्म-परमाणुओं के संयोग से ही विकारी बनता है। कषायादि भाव आत्मा की विभावावस्था के सूचक हैं, वे स्वतः ही विभाव के कारण नहीं हो सकते। विभाव स्वत प्रसूत नहीं होता, उसका कोई बाह्य निमित्त अवश्य होना चाहिए। जैसे पानी को शीतलता की स्वभाव-दशा से ऊष्णता की विभावदशा में परिवर्तित होने के लिए स्वस्वभाव से भिन्न अग्नि का संयोग (बाह्य निमित्त) आवश्यक है, वैसे ही आत्मा को ज्ञान-दर्शन रूप स्वस्वभाव का परित्याग कर कषायरूप विभावदशा को ग्रहण करने के लिए बाह्य निमित्त रूप कर्म-पुद्गलों का होना आवश्यक है। जैन विचारकों के अनुसार जड़ कर्म-परमाणु और चेतन आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बिना विभावदशा या बन्धन कथमपि सम्भव नहीं।

बौद्ध विचारक यह भी मानते हैं कि अमूर्त चैत्तसिक तत्त्व ही अमूर्त चेतना को प्रभावित करते हैं। मूर्त जड़ (रूप) अमूर्त चेतन (नाम) को प्रभावित नहीं करता। लेकिन इस आधार पर जड़-चेतनमय जगत् या बौद्ध परिभाषा में नाम-रूपात्मक जगत् की व्याख्या सभव नहीं है। यदि चैत्तसिक तत्त्वों और भौतिक तत्त्वों के मध्य कोई कारणात्मक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता है, तो उनके सम्बन्धों से उत्पन्न इस

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२५-२६.

जगत् की तार्किक व्याख्या सम्भव नहीं होगी। विज्ञानवादी बौद्धों ने इसी कठिनाई से बचने के लिए भौतिक जगत् (रूप) का निरसन किया, लेकिन यह तो वास्तविकता से मुँह मोड़ना ही था। बौद्ध दर्शन कर्म या बन्धन के मात्र चैत्तसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है। लेकिन थोडी अधिक गहराई से विचार करने पर दिखाई देता है कि बौद्ध दर्शन मे भी दोनों पक्ष मिलते है। प्रतीत्यसमुत्पाद मे विज्ञान (चेतना) तथा नाम-रूप के मध्य कारण-सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। मिलिन्दप्रश्न में तो स्पष्टरूप से कहा गया है कि नाम (चेतन पक्ष) और रूप (भौतिक पक्ष) अन्योन्याश्रयभाव से सम्बद्ध है।[1] वस्तुतः बौद्ध दर्शन भी नाम (चेतन) और रूप (भौतिक) दोनों के सहयोग से ही कार्य-निष्पत्ति मानता है। उसका यह कहना कि चेतना ही कर्म है, केवल इस बात का सूचक है कि कार्य-निष्पत्ति में चेतना सक्रिय तत्त्व के रूप में प्रमुख कारण है।

(ब) सांख्य-दर्शन और शांकरवेदान्त के दृष्टिकोण की समीक्षा

सांख्य-दार्शनिकों ने पुरुष को कूटस्थ मानकर केवल जड़ प्रकृति के आधार पर बन्धन और मुक्ति की व्याख्या करना चाहा, लेकिन वे भी पुरुष और प्रकृति के मध्य कोई वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाये और दार्शनिकों के द्वारा कठोर आलोचना के पात्र बने। उन्होंने बुद्धि, अहंकार और मन जैसे चैत्तसिक तत्त्वों को भी पूर्णतः जड़-प्रकृति का परिणाम माना जो कि इस आलोचना से बचने का पूर्वप्रयास ही कहा जा सकता है। सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति से सम्बन्धित कर नैतिक जगत् में अपनी वास्तविकवादिता की रक्षा नहीं कर पाया। यदि बन्धन और मुक्ति दोनों जड़ प्रकृति से ही होते हैं, तो फिर बन्धन से मुक्ति को ओर प्रयास रूप नैतिकता भी जड़-प्रकृति से ही सम्बन्धित होगी। लेकिन सांख्य नैतिक चेतना जिस विवेकज्ञान पर अधिष्ठित है, वह जड़-प्रकृति में सम्भव नहीं। विवेकाभाव और विवेकज्ञान दोनों का सम्बन्ध तो पुरुष से है। यदि पुरुष अविकारी, अपरिणामी और कूटस्थ है तो उसमें विवेकाभावरूप विकार जड़-प्रकृति के कारण कैसे हो सकता है। कूटस्थ आत्मवाद आत्मा के विभाव या बन्धन की तर्कसंगत व्याख्या नहीं करता। इस प्रकार सांख्य दर्शन तार्किक दृष्टि से अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहा।

शांकरवेदान्त में कर्म एवं माया पर्यायवाची हैं। उसमें भी सांख्य के पुरुष के समान आत्मन् या ब्रह्मन् को निर्विकारी एवं निरपेक्ष माना गया है, लेकिन यदि आत्मा निर्विकारी और निरपेक्ष है तो फिर बन्धन, मुक्ति और नैतिकता की सारी कहानी अर्थहीन है। इसी कठिनाई को समझकर शांकर वेदान्त ने बन्धन और मुक्ति को मात्र व्यवहारदृष्टि से स्वीकार किया।

गीता का दृष्टिकोण

सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता सांख्य दर्शन से प्रभावित है और बन्धन को मात्र जड़

---

१. मिलिन्दप्रश्न, लक्षणप्रश्न, द्वितीय वर्ग.

प्रकृति से सम्बन्धित मानती है। उसमें आत्मा को अकर्ता ही कहा गया है, लेकिन गीता में जो बन्धन का कारण है वह पूर्णतया जड़ (भौतिक) नहीं है। जब तक जड़ प्रकृति की उपस्थिति में पुरुष या आत्मा अहंकार से युक्त नहीं होता, तब तक बन्धन नहीं होता। आत्मा का अहंभाव ही वह चैत्तसिक पक्ष है, जो बन्धन का मूलभूत उपादान है और जड़ प्रकृति उस अहंभाव का निमित्त है। अहंकार के लिए निमित्त के रूप प्रकृति और उपादान के रूप चेतन पुरुष दोनों ही अपेक्षित हैं। प्रकृति अहंकार का भौतिक पक्ष है और पुरुष उसका चेतन पक्ष। इस प्रकार यहाँ गीता और जैन-दर्शन निकट आ जाते हैं। गीता की प्रकृति जैन दर्शन के द्रव्यकर्म के समान है और गीता का अहंकार भावकर्म के समान है। दोनों में कार्य-कारणभाव है और दोनों की उपस्थिति में ही बन्धन होता है।

एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक

कर्ममय नैतिक जीवन की समुचित व्यवस्था के लिए, बन्धन और मुक्ति के वास्तविक विश्लेषण के लिए, एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक है। एक समग्र दृष्टिकोण बन्धन और मुक्ति को न तो पूर्णतया जड़ प्रकृति पर आरोपित करता है और न उसे मात्र चैत्तसिक तत्त्वों पर आधारित करता है। यदि कर्म का अचेतन या जड़ पक्ष ही स्वीकार किया जाये, तो कर्म आकारहीन विषयवस्तु होगा और यदि कर्म का चैत्तसिक पक्ष ही स्वीकारें तो कर्म विषयवस्तुविहीन आकार होगा। लेकिन विषयवस्तुविहीन आकार और आकारविहीन विषयवस्तु दोनों ही वास्तविकता से दूर हैं।

जैन कर्म-सिद्धान्त कर्म के भौतिक एवं भावात्मक पक्ष पर समुचित जोर देकर जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। डा० टाँटिया लिखते हैं, "कर्म अपने पूर्ण विश्लेषण में जड़ और चेतन के मध्य योजक कड़ी है—यह चेतन और चेतनसंयुक्तजड़ पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगात्मकता को अभिव्यंजित करता है।" सांख्य योग के अनुसार कर्म पूर्णतः जड़प्रकृति से सम्बन्धित है और इसलिए वह प्रकृति ही है जो बन्धन में आती है और मुक्त होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म पूर्णतया चेतना के सम्बन्धित है और इसलिए चेतना ही बन्धन में आती है और मुक्त होती है। लेकिन जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार संसार का अर्थ है जड़ और चेतन का पारस्परिक बन्धन और मुक्ति का अर्थ है दोनों का अलग-अलग हो जाना।[१]

§ ९. भौतिक और अभौतिक पक्षों की पारस्परिक प्रभावकता

वस्तुतः नैतिक दृष्टि से यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है कि चैतन्य आत्मतत्त्व और कर्मपरमाणुओं (भौतिक तत्त्व) के मध्य क्या सम्बन्ध है? जिन दार्शनिकों ने चरम सत्य के रूप में अद्वैत की धारणा को छोड़कर द्वैत की धारणा स्वीकार की उनके लिए यह प्रश्न बना रहा कि इनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करें। यह एक कठिन

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२८

जगत् की तार्किक व्याख्या सम्भव नहीं होगी। विज्ञानवादी बौद्धों ने इसी कठिनाई से बचने के लिए भौतिक जगत् (रूप) का निरसन किया, लेकिन यह तो वास्तविकता से मुँह मोड़ना ही था। बौद्ध दर्शन कर्म या बन्धन के मात्र चैत्तसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है। लेकिन थोड़ी अधिक गहराई से विचार करने पर दिखाई देता है कि बौद्ध दर्शन में भी दोनों पक्ष मिलते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद मे विज्ञान (चेतना) तथा नाम-रूप के मध्य कारण-सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। मिलिन्दप्रश्न में तो स्पष्टरूप से कहा गया है कि नाम (चेतन पक्ष) और रूप (भौतिक पक्ष) अन्योन्याश्रयभाव से सम्बद्ध हैं।[1] वस्तुतः बौद्ध दर्शन भी नाम (चेतन) और रूप (भौतिक) दोनों के सहयोग से ही कार्य-निष्पत्ति मानता है। उसका यह कहना कि चेतना ही कर्म है, केवल इस बात का सूचक है कि कार्य-निष्पत्ति में चेतना सक्रिय तत्त्व के रूप में प्रमुख कारण है।

(ब) सांख्य-दर्शन और शांकरवेदान्त के दृष्टिकोण की समीक्षा

सांख्य-दार्शनिकों ने पुरुष को कूटस्थ मानकर केवल जड़ प्रकृति के आधार पर बन्धन और मुक्ति की व्याख्या करना चाहा, लेकिन वे भी पुरुष और प्रकृति के मध्य कोई वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाये और दार्शनिकों के द्वारा कठोर आलोचना के पात्र बने। उन्होंने बुद्धि, अहंकार और मन जैसे चैत्तसिक तत्त्वों को भी पूर्णतः जड़-प्रकृति का परिणाम माना जो कि इस आलोचना से बचने का पूर्वप्रयास ही कहा जा सकता है। सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति से सम्बन्धित कर नैतिक जगत् में अपनी वास्तविकवादिता की रक्षा नहीं कर पाया। यदि बन्धन और मुक्ति दोनों जड़ प्रकृति से ही होते है, तो फिर बन्धन से मुक्ति को ओर प्रयास रूप नैतिकता भी जड़-प्रकृति से ही सम्बन्धित होगी। लेकिन सांख्य नैतिक चेतना जिस विवेकज्ञान पर अधिष्ठित है, वह जड़-प्रकृति में सम्भव नहीं। विवेकाभाव और विवेकज्ञान दोनों का सम्बन्ध तो पुरुष से है। यदि पुरुष अविकारी, अपरिणामी और कूटस्थ है तो उसमें विवेकाभावरूप विकार जड़-प्रकृति के कारण कैसे हो सकता है। कूटस्थ आत्मवाद आत्मा के विभाव या बन्धन की तर्कसंगत व्याख्या नहीं करता। इस प्रकार सांख्य दर्शन तार्किक दृष्टि से अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहा।

शांकरवेदान्त में कर्म एवं माया पर्यायवाची हैं। उसमें भी सांख्य के पुरुष के समान आत्मन् या ब्रह्मन् को निर्विकारी एवं निरपेक्ष माना गया है, लेकिन यदि आत्मा निर्विकारी और निरपेक्ष है तो फिर बन्धन, मुक्ति और नैतिकता की सारी कहानी अर्थहीन है। इसी कठिनाई को समझकर शांकर वेदान्त ने बन्धन और मुक्ति को मात्र व्यवहारदृष्टि से स्वीकार किया।

गीता का दृष्टिकोण

सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता सांख्य दर्शन से प्रभावित है और बन्धन को मात्र जड़

---

१. मिलिन्दप्रश्न, लक्षणप्रश्न, द्वितीय वर्ग.

प्रकृति से सम्बन्धित मानती है। उसमें आत्मा को अकर्ता ही कहा गया है, लेकिन गीता में जो बन्धन का कारण है वह पूर्णतया जड़ (भौतिक) नहीं है। जब तक जड़ प्रकृति की उपस्थिति में पुरुष या आत्मा अहंकार से युक्त नहीं होता, तब तक बन्धन नहीं होता। आत्मा का अहंभाव ही वह चैत्तसिक पक्ष है, जो बन्धन का मूलभूत उपादान है और जड़ प्रकृति उस अहंभाव का निमित्त है। अहंकार के लिए निमित्त के रूप प्रकृति और उपादान के रूप चेतन पुरुष दोनों ही अपेक्षित हैं। प्रकृति अहंकार का भौतिक पक्ष है और पुरुष उसका चेतन पक्ष। इस प्रकार यहाँ गीता और जैन-दर्शन निकट आ जाते हैं। गीता की प्रकृति जैन दर्शन के द्रव्यकर्म के समान है और गीता का अहंकार भावकर्म के समान है। दोनों में कार्य-कारणभाव है और दोनों की उपस्थिति में ही बन्धन होता है।

एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक

कर्ममय नैतिक जीवन की समुचित व्यवस्था के लिए, बन्धन और मुक्ति के वास्तविक विश्लेषण के लिए, एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक है। एक समग्र दृष्टिकोण बन्धन और मुक्ति को न तो पूर्णतया जड़ प्रकृति पर आरोपित करता है और न उसे मात्र चैत्तसिक तत्त्वों पर आधारित करता है। यदि कर्म का अचेतन या जड़ पक्ष ही स्वीकार किया जाये, तो कर्म आकारहीन विषयवस्तु होगा और यदि कर्म का चैत्तसिक पक्ष ही स्वीकारें तो कर्म विषयवस्तुविहीन आकार होगा। लेकिन विषयवस्तुविहीन आकार और आकारविहीन विषयवस्तु दोनों ही वास्तविकता से दूर हैं।

जैन कर्म-सिद्धान्त कर्म के भौतिक एवं भावात्मक पक्ष पर समुचित जोर देकर जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। डा० टाँटिया लिखते हैं, "कर्म अपने पूर्ण विश्लेषण में जड़ और चेतन के मध्य योजक कड़ी है—यह चेतन और चेतनसंयुक्तजड़ पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगात्मकता को अभिव्यंजित करता है।" सांख्य योग के अनुसार कर्म पूर्णतः जड़प्रकृति से सम्बन्धित है और इसलिए वह प्रकृति ही है जो बन्धन में आती है और मुक्त होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म पूर्णतया चेतना के सम्बन्धित है और इसलिए चेतना ही बन्धन में आती है और मुक्त होती है। लेकिन जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार संसार का अर्थ है जड़ और चेतन का पारस्परिक बन्धन और मुक्ति का अर्थ है दोनों का अलग-अलग हो जाना।[१]

§ ९. भौतिक और अभौतिक पक्षों की पारस्परिक प्रभावकता

वस्तुतः नैतिक दृष्टि से यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है कि चैतन्य आत्मतत्त्व और कर्मपरमाणुओं (भौतिक तत्त्व) के मध्य क्या सम्बन्ध है? जिन दार्शनिकों ने चरम सत्य के रूप में अद्वैत की धारणा को छोड़कर द्वैत की धारणा स्वीकार की उनके लिए यह प्रश्न बना रहा कि इनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करें। यह एक कठिन

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२८

समस्या है। इस समस्या से बचने के लिए ही अनेक चिन्तकों ने एकतत्त्ववाद की धारणा स्थापित की। भारतीय चार्वाक दार्शनिकों एवं आधुनिक भौतिकवादियों ने जड़ को ही चरम सत्य के रूप में स्वीकार किया और इस प्रकार इस समस्या के समाधान से छुट्टी पाई। दूसरी ओर शंकर एवं बौद्ध विज्ञानवाद ने चेतन को ही चरम सत्य माना। इस प्रकार उन्हें भी इस समस्या के समाधान का कोई प्रयास नहीं करना पड़ा, यद्यपि उनके समक्ष यह समस्या अवश्य थी कि इस दृश्य भौतिक जगत् की व्याख्या कैसे करें ? और इसका उस विशुद्ध चैतन्य परम तत्त्व से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करें ? उन्होंने इस जगत् को मात्र प्रतीति बताकर समस्या का समाधान खोजा। लेकिन वह समाधान भी सामान्य बुद्धि को सन्तुष्ट न कर पाया। पश्चिम में बर्कले ने भी जड़ की सत्ता को मनस् से स्वतन्त्र न मानकर ऐसा ही प्रयास किया था, लेकिन नैतिकता की समुचित व्याख्या किसी भी प्रकार के एकतत्त्ववाद में सम्भव नहीं। जिन विचारकों ने जैन दर्शन के समान नैतिकता की व्याख्या के लिए जड़ और चेतन, पुरुष और प्रकृति अथवा मनस् और शरीर का द्वैत स्वीकार किया उनके लिए यह महत्त्वपूर्ण समस्या थी कि वे इस बात की व्याख्या करें कि इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है ? पश्चिम में यह समस्या देकार्त के सामने भी उपस्थित थी। देकार्त ने इसका हल पारस्परिक प्रतिक्रिया-वाद के आधार पर किया। लेकिन स्वतंत्र सत्ताओं में परस्पर प्रतिक्रिया कैसी ? स्पीनोजा ने उसके स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना की और जड़-चैतन्य में पारस्परिक प्रतिक्रिया न मानते हुए भी उनमें एक प्रकार के समानान्तर परिवर्तन को स्वीकार किया तथा इसका आधार सत्ता की तात्त्विक एकता माना। लाईबनीज ने प्रतिक्रियावाद की कठिनाइयों से बचने के लिए पूर्वस्थापित सामंजस्य की धारणा का प्रतिपादन किया और बताया कि सृष्टि के समय ही मन और शरीर के बीच ईश्वर ने ऐसी पूर्वानुकूलता उत्पन्न कर दी है कि उनमें सदा सामञ्जस्य रहता है, जैसे—दो अलग घड़ियाँ यदि एक बार एक साथ मिला दी जाती हैं तो वे एकदूसरे पर बिना प्रतिक्रिया करते हुए भी समान समय ही सूचित करती हैं, वैसे ही मानसिक परिवर्तन और शारीरिक परिवर्तन परस्पर अप्रभावित एवं स्वतन्त्र होते हुए भी एक साथ होते रहते हैं।

पश्चिम में यह समस्या अचेतन शरीर और चेतना के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर थी। जबकि भारत में सम्बन्ध की यह समस्या प्रकृति, त्रिगुण अथवा कर्म-परमाणु और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर थी। गहराई से विचार करने पर यहाँ भी मूल समस्या शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को लेकर ही है। यद्यपि शरीर से भारतीय चिन्तकों का तात्पर्य स्थूल शरीर से न होकर सूक्ष्म शरीर (लिंग-शरीर) से है। यही लिंगशरीर जैन दर्शन में कर्म-शरीर कहा जाता है जो कर्मपरमाणुओं का बना होता है और बंधन की दशा में सदैव आत्मा के साथ रहता है। यहाँ भी मूल प्रश्न यही है कि यह लिंग-शरीर या कर्म-शरीर आत्मा को कैसे प्रभावित करता है। सांख्य दर्शन

पुरुष तथा प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करते हुए भी अपने कूटस्थ आत्मवाद के कारण इनके पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाया। जैन दर्शन वस्तुवादी एवं परिणामवादी है और इसलिए वह जड़-चेतन के मध्य वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव नहीं करता। वह चेतना पर होनेवाले जड़ के प्रभाव को स्वीकार करता है। वह कहता है कि अनुभव हमें यह बताता है कि जड़ मादक पदार्थों का प्रभाव चेतना पर पड़ता ही है। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि जड़ कर्म-वर्गणाओं का प्रभाव चेतन-आत्मा पर पड़ता है। संसार का अर्थ जड़ और चेतन का वास्तविक सम्बन्ध है।

§ १०. कर्म की मूर्तता

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य-कर्म पुद्गलजन्य है, अतः मूर्त (भौतिक) है। कारण से जिस प्रकार कार्य का अनुमान होता है, उसी प्रकार कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर आदि कार्य मूर्त है तो उनका कारण कर्म भी मूर्त ही होना चाहिए। कर्म की मूर्तता सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क इस प्रकार दिये जा सकते हैं—कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से सुख-दुःख आदि का ज्ञान होता है, जैसे भोजन से। कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना होती है, जैसे अग्नि से। यदि कर्म अमूर्त होता, तो उसके कारण सुख-दुःखादि की वेदना सम्भव नहीं होती।

मूर्त का अमूर्त प्रभाव

यदि कर्म मूर्त है, तो फिर वह अमूर्त आत्मा पर अपना प्रभाव कैसे डालता है? जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा पर भी मूर्त कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए? इसका उत्तर यही है कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उक्त प्रश्न का एक दूसरा तर्कसंगत एवं निर्दोष समाधान यह भी है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म-सन्तति से सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म-सम्बद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है।[१] वस्तुतः जिस पर कर्म-सिद्धान्त का नियम लागू होता है वह व्यक्तित्व अमूर्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा शरीर (कर्म-शरीर) के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त शरीर के माध्यम से उस पर मूर्त-कर्म का प्रभाव पड़ता है।

---

१ अमर भारती, नवम्बर १९६५, पृ० ११-१२.

मूर्त का अमूर्त से सम्बन्ध

यह प्रश्न भी उठ सकता है कि मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्धित होते है ? जैन विचारकों का समाधान यह है कि जैसे मूर्त घट अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्धित होता है वैसे ही मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। जैन विचारकों ने आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को नीर-क्षीरवत् अथवा अग्नि-लौहपिंडवत् माना है। यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि दो स्वतन्त्र सत्ताओं—जड़ कर्मपरमाणु और चेतन में पारस्परिक प्रभाव को स्वीकार किया जायेगा तो फिर मुक्तावस्था में भी जड़कर्मपरमाणु आत्मा को प्रभावित किये बिना नहीं रहेंगे और मुक्ति का कोई अर्थ नही होगा। यदि वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने में सक्षम नही हैं तो फिर बन्धन ही कैसे सिद्ध होगा ? आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि जैसे स्वर्ण कीचड़ मे रहने पर भी जंग नहीं खाता जबकि लोहा जंग खा जाता है, इसी प्रकार शुद्धात्मा कर्मपरमाणुओं के मध्य रहते हुए भी उनके निमित्त से विकारी नही बनता जबकि अशुद्ध आत्मा विकारी बन जाता है। जड़ कर्म-परमाणु उसी आत्मा को विकारी बना सकते है जो पूर्व में राग-द्वेष आदि से अशुद्ध है।[1] वस्तुतः आत्मा जब तक भौतिक शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्म-परमाणु उसे प्रभावित कर सकते हैं। कर्म-शरीर के रूप में रहे हुए कर्म-परमाणु ही बाह्य जगत् के कर्म-परमाणुओं का आकर्षण कर सकते है। चूँकि मुक्तावस्था मे आत्मा अशरीरी होता है, अतः उस अवस्था मे कर्मपरमाणुओं की उपस्थिति मे भी उसे बन्धन में आने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

§ ११. कर्म और विपाक की परम्परा

राग-द्वेष आदि की शुभाशुभ वृत्तियाँ ही भावकर्म के रूप मे आत्मा की अवस्था विशेष हैं। भावकर्म की उपस्थिति मे ही द्रव्य-कर्म आत्मा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म का आस्रव होता रहता है और यही द्रव्यकर्म समयविशेष मे भावकर्म का कारण बन जाता है। इस प्रकार कर्म-प्रवाह चलता रहता है। कर्म-प्रवाह ही संसार है। कर्म और विपाक की परम्परा से यह संसारचक्र प्रवर्तित होता रहता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और विपाक से कर्म उत्पन्न होता है। कर्म से पुनर्जन्म होता है और इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता है।[2] अतः यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से है अथवा कर्म और विपाक की परम्परा का प्रारम्भ कब हुआ ? यदि हम इसे सादि मानते है तो यह मानना पड़ेगा कि किसी काल-विशेष मे आत्मा बद्ध हुआ, उसके पहले मुक्त था; फिर उसे बन्धन मे आने का क्या कारण ? यदि मुक्तात्मा को बन्धन मे आने की सम्भावना मानी जाये तो मुक्ति का मूल्य अधिक नही रह जाता।

---

१. समयसार, २१८–१९.
२. मज्झिमनिकाय; ३।२।३.

दूसरी ओर यदि इसे अनादि माना जाये तो जो अनादि है वह अनन्त भी होगा। और इस अवस्था में मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं रह जायेगी।

जैन दृष्टिकोण

जैन दार्शनिकों ने समस्या के समाधान के लिए एक सापेक्ष उत्तर दिया है। उनका कहना कि कर्मपरम्परा कर्मविशेष की अपेक्षा से सादि और सान्त है और प्रवाह की दृष्टि से अनादि-अनन्त है। कर्मपरम्परा का प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, लेकिन अनन्त नहीं है। उसे अनन्त नहीं मानने का कारण यह है कि कर्म-विशेष के रूप में तो सादि है और यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके तो वह परम्परा अनन्त नहीं रह सकती। जैन दार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेषरूपी कर्म-बीज के भुन जाने पर कर्म-प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म-परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व, मुक्ति से अनावृत्ति और मुक्ति की सम्भावना की समुचित व्याख्या हो सकती है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध आचारदर्शन भी बन्धन के अनादित्व और मुक्ति से अनावृत्ति की धारणा को स्वीकार करता है। अतः बौद्ध दृष्टि से कर्म-परम्परा को व्यक्तिविशेष की दृष्टि से अनादि और सान्त मानना समुचित प्रतीत होता है। बौद्ध दार्शनिक कारणरूप कर्म-परम्परा से आगे किसी कर्ता को नहीं देखते हैं। उनके अनुसार, सच्चा ज्ञानी कारण से आगे कर्ता को नहीं देखता न विपाक की प्रवृत्ति से आगे विपाक भोगनेवाले को। किन्तु कारण के होने पर कर्ता है और विपाक की प्रवृत्ति से भोगनेवाला है, ऐसा मानता है। बौद्ध दार्शनिक अपनी अनात्मवादी धारणा के आधार पर कारणरूप कर्म-परम्परा पर रुक जाना पसन्द करते हैं, क्योंकि इस आधार पर अनात्म की अवधारणा सरल होती है। लेकिन कर्म के कारण को मानना और उसके कारक को नहीं मानना एक वदतोव्याघात है। यहाँ हम इसकी गहराई में नहीं जाना चाहते। वास्तविकता यह है कि कर्ता, कर्म और कर्म-विपाक तीनों में से किसी की भी पूर्वकोटि नहीं मानी जा सकती। बौद्ध दार्शनिक भी कर्म और विपाक के सम्बन्ध में इसे स्वीकार करते हैं। कहा है कि कर्म और विपाक के प्रवर्तित होने पर वृक्ष बीज के समान किसी का पूर्व छोर नहीं जान पड़ता है।[१] इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार भी प्रवाह अनादि तो है, लेकिन वैयक्तिक दृष्टि से वह अनन्त नहीं रहता। जैसे किसी बीज के भुन जाने पर उस बीज की दृष्टि से बीज-वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है, वैसे ही व्यक्ति के राग, द्वेष और मोह का प्रहाण हो जाने पर उस व्यक्ति की कर्म-विपाक परम्परा का अन्त हो जाता है।

§ १२. कर्मफल संविभाग

कर्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या एक व्यक्ति अपने

१. विसुद्धिमग्ग, भाग २, पृ० २०५.

मूर्त का अमूर्त से सम्बन्ध

यह प्रश्न भी उठ सकता है कि मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्धित होते है ? जैन विचारकों का समाधान यह है कि जैसे मूर्त घट अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्धित होता है वैसे ही मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। जैन विचारकों ने आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को नीर-क्षीरवत् अथवा अग्नि-लौहपिंडवत् माना है। यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि दो स्वतन्त्र सत्ताओं—जड़ कर्मपरमाणु और चेतन में पारस्परिक प्रभाव को स्वीकार किया जायेगा तो फिर मुक्तावस्था में भी जड़कर्मपरमाणु आत्मा को प्रभावित किये बिना नहीं रहेंगे और मुक्ति का कोई अर्थ नही होगा। यदि वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने में सक्षम नहीं हैं तो फिर बन्धन ही कैसे सिद्ध होगा ? आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि जैसे स्वर्ण कीचड़ मे रहने पर भी जंग नहीं खाता जबकि लोहा जंग खा जाता है, इसी प्रकार शुद्धात्मा कर्मपरमाणुओ के मध्य रहते हुए भी उनके निमित्त से विकारी नही बनता जबकि अशुद्ध आत्मा विकारी बन जाता है। जड़ कर्म-परमाणु उसी आत्मा को विकारी बना सकते है जो पूर्व में राग-द्वेष आदि से अशुद्ध है।[1] वस्तुतः आत्मा जब तक भौतिक शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्म-परमाणु उसे प्रभावित कर सकते हैं। कर्म-शरीर के रूप मे रहे हुए कर्म-परमाणु ही बाह्य जगत् के कर्म-परमाणुओं का आकर्षण कर सकते है। चूँकि मुक्तावस्था मे आत्मा अशरीरी होता है, अतः उस अवस्था मे कर्मपरमाणुओ की उपस्थिति मे भी उसे बन्धन में आने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

§ ११. कर्म और विपाक की परम्परा

राग-द्वेष आदि की शुभाशुभ वृत्तियाँ ही भावकर्म के रूप मे आत्मा की अवस्था विशेष है। भावकर्म की उपस्थिति मे ही द्रव्य-कर्म आत्मा के द्वारा ग्रहण किये जाते है। भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म का आस्रव होता रहता है और यही द्रव्यकर्म समयविशेष मे भावकर्म का कारण बन जाता है। इस प्रकार कर्म-प्रवाह चलता रहता है। कर्म-प्रवाह ही संसार है। कर्म और विपाक की परम्परा से यह संसारचक्र प्रवर्तित होता रहता है। भगवान् बुद्ध कहते है कि कर्म से विपाक प्रवर्तित होते है और विपाक से कर्म उत्पन्न होता है। कर्म से पुनर्जन्म होता है और इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता है।[2] अतः यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से है अथवा कर्म और विपाक की परम्परा का प्रारम्भ कब हुआ ? यदि हम इसे सादि मानते है तो यह मानना पड़ेगा कि किसी काल-विशेष मे आत्मा बद्ध हुआ, उसके पहले मुक्त था; फिर उसे बन्धन मे आने का क्या कारण ? यदि मुक्तात्मा को बन्धन मे आने की सम्भावना मानी जाये तो मुक्ति का मूल्य अधिक नही रह जाता।

---

१. समयसार, २१८–१९.

२. मज्झिमनिकाय; ३।२।३.

दूसरी ओर यदि इसे अनादि माना जाये तो जो अनादि है वह अनन्त भी होगा। और इस अवस्था में मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं रह जायेगी।

जैन दृष्टिकोण

जैन दार्शनिकों ने समस्या के समाधान के लिए एक सापेक्ष उत्तर दिया है। उनका कहना कि कर्मपरम्परा कर्मविशेष की अपेक्षा से सादि और सान्त है और प्रवाह की दृष्टि से अनादि-अनन्त है। कर्मपरम्परा का प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, लेकिन अनन्त नहीं है। उसे अनन्त नहीं मानने का कारण यह है कि कर्म-विशेष के रूप में तो सादि है और यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके तो वह परम्परा अनन्त नहीं रह सकती। जैन दार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेषरूपी कर्म-बीज के भुन जाने पर कर्म-प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म-परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व, मुक्ति से अनावृत्ति और मुक्ति की सम्भावना की समुचित व्याख्या हो सकती है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध आचारदर्शन भी बन्धन के अनादित्व और मुक्ति से अनावृत्ति की धारणा को स्वीकार करता है। अतः बौद्ध दृष्टि से कर्म-परम्परा को व्यक्तिविशेष की दृष्टि से अनादि और सान्त मानना समुचित प्रतीत होता है। बौद्ध दार्शनिक कारणरूप कर्म-परम्परा से आगे किसी कर्ता को नहीं देखते हैं। उनके अनुसार, सच्चा ज्ञानी कारण से आगे कर्ता को नहीं देखता न विपाक की प्रवृत्ति से आगे विपाक भोगनेवाले को। किन्तु कारण के होने पर कर्ता है और विपाक की प्रवृत्ति से भोगनेवाला है, ऐसा मानता है। बौद्ध दार्शनिक अपनी अनात्मवादी धारणा के आधार पर कारणरूप कर्म-परम्परा पर रुक जाना पसन्द करते हैं, क्योंकि इस आधार पर अनात्म की अवधारणा सरल होती है। लेकिन कर्म के कारण को मानना और उसके कारक को नहीं मानना एक वदतोव्याघात है। यहाँ हम इसकी गहराई में नहीं जाना चाहते। वास्तविकता यह है कि कर्ता, कर्म और कर्म-विपाक तीनों में से किसी की भी पूर्वकोटि नहीं मानी जा सकती। बौद्ध दार्शनिक भी कर्म और विपाक के सम्बन्ध में इसे स्वीकार करते हैं। कहा है कि कर्म और विपाक के प्रवर्तित होने पर वृक्ष बीज के समान किसी का पूर्व छोर नहीं जान पड़ता है।[1] इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार भी प्रवाह अनादि तो है, लेकिन वैयक्तिक दृष्टि से वह अनन्त नहीं रहता। जैसे किसी बीज के भुन जाने पर उस बीज की दृष्टि से बीज-वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है, वैसे ही व्यक्ति के राग, द्वेष और मोह का प्रहाण हो जाने पर उस व्यक्ति की कर्म-विपाक परम्परा का अन्त हो जाता है।

§ १२. कर्मफल संविभाग

कर्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या एक व्यक्ति अपने

१. विसुद्धिमग्ग, भाग २, पृ० २०५.

किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं दे सकता ? क्या व्यक्ति अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का ही भोग करता है अथवा दूसरों के द्वारा किये हुए शुभाशुभ का फल भी उसे मिलता है ? इस सन्दर्भ में समालोच्य आचार-दर्शनों के दृष्टिकोण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

जैन दृष्टिकोण

जैन विचारणा के अनुसार प्राणी के शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफल में कोई भागीदार नहीं बन सकता। जो व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करता है वही उसका फल प्राप्त करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट विधान है संसारी जीव स्व एवं पर के लिए जो साधारण कर्म करता है उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-बान्धव (परिजन) हिस्सा नहीं लेते।[1] इसी ग्रन्थ में प्राणी की अनाथता का निर्णय करते हुए यह बताया गया है कि न तो माता-पिता और पुत्र-पौत्रादि ही प्राणी का हिताहित करने में समर्थ है।[2] भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर से जब यह प्रश्न किया गया कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते है या परकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं ? तो महावीर का स्पष्ट उत्तर था कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते है, परकृत का नहीं।[3] इस प्रकार जैन विचारणा में कर्मफल संविभाग को अस्वीकार किया गया है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन में बोधिसत्व का आदर्श कर्मफल संविभाग के विचार को पुष्ट करता है। बोधिसत्व तो सदैव यह कामना करते है कि उनके कुशल कर्मों का फल विश्व के समस्त प्राणियों को मिले। फिर भी बौद्ध दर्शन यह मानता है कि केवल शुभकर्मों में ही दूसरे को सम्मिलित किया जा सकता है। बौद्ध दृष्टिकोण के सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते है कि सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है, जो कर्म करता है वही (सन्तानप्रवाह की अपेक्षा से) उसका फल भोगता है। किन्तु पालीनिकाय में भी पुण्य परिणामना (पत्तिदान) है। वह यह भी मानता है कि मृत की सहायता हो सकती है। स्थविरवादी प्रेत और देवों को दक्षिणा देते है अर्थात् भिक्षुकों को दिये हुए दान (दक्षिणा) से जो पुण्य संचित होता है, उसको देते हैं। बौद्धों के अनुसार हम अपने पुण्य में दूसरे को सम्मिलित कर सकते है, पाप में नही।[4] हिन्दुओं के समान ही बौद्ध भी प्रेतयोनि में विश्वास करते है और प्रेत के निमित्त जो भी दान-पुण्य आदि किया जाता है उसका फल प्रेत को मिलता है, यह मानते हैं। बौद्ध यह भी मानते है कि यदि प्राणी मरकर परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था मे जन्म लेता है, तब तो उसे यहाँ उसके निमित्त किया जानेवाला पुण्यकर्म का फल मिलता है, लेकिन यदि वह मरकर मनुष्य,

१. उत्तराध्ययनसूत्र, १३ २३, ४।४.
२. वही, २०।२२-३०.
३. भगवतीसूत्र, १।२।६४.
४. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २६७.

नारक, तिर्यंच या देव योनि में उत्पन्न होता है तो पुण्यकर्म करनेवाले को ही उसका फल मिलता है। इस प्रकार बौद्ध विचारणा कुशल कर्मो के फल संविभाग को स्वीकार करती है।

गीता एवं हिन्दू परम्परा का दृष्टिकोण

गीता कर्मफल संविभाग में विश्वास करती है, ऐसा कहा जा सकता है। गीता में श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाओं के अभाव में तथा कुलधर्म के विनष्ट होने से पितर का पतन हो जाता है, यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।[1] इसका स्पष्ट अर्थ है कि संतानादि द्वारा किये गये शुभाशुभ कृत्यों का प्रभाव उनके पितरों पर पड़ता है। महाभारत में यह बात भी स्वीकार की गई है कि न केवल सन्तान के कृत्यों का प्रभाव पूर्वजों पर पड़ता है वरन् पूर्वजों के शुभाशुभ कृत्यों का फल भी सन्तान को प्राप्त होता है। शान्ति-पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं, 'हे राजन्, चाहे किसी आदमी को उसके पाप कर्मो का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े, तथापि वह उसे ही नहीं किन्तु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है।'[2] इसी सन्दर्भ में मनुस्मृति (४।१७३) एवं महाभारत (आदिपर्व, ८०।३) का उद्धरण देते हुए तिलक भी लिखते हैं कि न केवल हमें, किन्तु कभी-कभी हमारे नाम-रूपात्मक देह से उत्पन्न लड़कों और हमारे नातियों तक को कर्मफल भोगने पड़ते हैं।[3] इस प्रकार हिन्दू विचारणा सभी शुभाशुभ कर्मो के फल-संविभाग को स्वीकार करती है।

तुलना एव समीक्षा

बौद्ध और हिन्दू परम्परा में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि हिन्दू धर्म में मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्मों का फल उसके पूर्वजों एवं सन्तानों को मिल सकता है, जब कि बौद्ध धर्म में केवल पुण्य कर्मो का फल ही प्रेतों को मिलता है। हिन्दू धर्म में पुण्य और पाप दोनों कर्मो का फल-संविभाग स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्धधर्म का सिद्धान्त यह है कि कुशल (पुण्य) कर्म का ही संविभाग हो सकता है, अकुशल (पाप) कर्म का नहीं। मिलिन्दप्रश्न में दो कारणों से अकुशल कर्म को संविभाग के अयोग्य माना है (१) पाप-कर्म में प्रेत की अनुमति नहीं है, अतः उसका फल उसे नहीं मिल सकता। (२) अकुशल परिमित होता है, अतः उसका संविभाग नहीं हो सकता; किन्तु कुशल विपुल होता है अतः उसका संविभाग हो सकता है।[4]

लेकिन विचारपूर्वक देखें तो यह तर्क औचित्यपूर्ण नहीं है। यदि अनुमति के अभाव में अशुभ का फल प्राप्त नहीं होता है तो फिर शुभ का फल कैसे प्राप्त हो

---

१. गीता, १।४२.

२. महाभारत, शान्तिपर्व, १२९.

३. गीतारहस्य, पृ० २६८.

४. देखिए—आत्ममीमांसा, पृ० १३२-१३३; मिलिन्दप्रश्न, ४।८।३०-३५, पृ० २८८.

सकता है ? दूसरे यह कहना कि अकुशल परिमित है, ठीक नहीं है। इस कथन का क्या आधार है कि अकुशल (पाप) परिमित है ? दूसरे, परिमित का भी भाग होना संभव है। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर हम यह मान सकते हैं कि व्यक्ति के शुभाशुभ आचरण का प्रभाव केवल परिजनों पर ही नहीं, समाज पर भी पड़ता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी मनुष्य की शुभाशुभ क्रियाओं से समाज एवं भावी पीढ़ी प्रभावित होती है। एक मनुष्य की गलत नीति का परिणाम समूचे राष्ट्र और राष्ट्र की भावी पीढ़ी को भुगतना पड़ता है, यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। ऐसी स्थिति में कर्म-फल का संविभाग-सिद्धान्त ही हमारी व्यवहारबुद्धि को सन्तुष्ट करता है। लेकिन इस धारणा को स्वीकार कर लेने पर कर्म-सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात होता है, क्योंकि कर्म-सिद्धान्त में वैयक्तिक विविध अनुभूतियों का कारण व्यक्ति के अन्दर ही माना जाता है, जबकि फल-संविभाग के आधार पर हमें बाह्य कारण को स्वीकार करना होता है।

जैन कर्म-सिद्धान्त में फल-संविभाग का अर्थ समझने के लिए हमें उपादान कारण (आन्तरिक कारण) और निमित्त कारण (बाह्य कारण) का भेद समझना होगा। जैन कर्म-सिद्धान्त मानता है कि विविध सुखद-दुःखद अनुभूतियों का मूल कारण (उपादान कारण) तो व्यक्ति के अपने ही पूर्व-कर्म हैं। दूसरा व्यक्ति तो मात्र निमित्त बन सकता है। अर्थात् उपादान कारण की दृष्टि से सुख-दुःखादि अनुभव स्वकृत है और निमित्तकारण की दृष्टि से परकृत है। गीता भी यह दृष्टिकोण अपनाती है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यह लोग तो अपनी ही मौत मरेंगे, तू तो मात्र निमित्त होगा। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठता है यदि हम दूसरों का हिताहित करने में मात्र निमित्त होते हैं, तो फिर हमें पाप-पुण्य का भागी क्यों माना जाता है ? जैन-विचारकों ने इस प्रश्न का समाधान खोजा है। उनका कहना है कि हमारे पुण्य-पाप दूसरे के हिताहित की क्रिया पर निर्भर न होकर हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर हैं। हम दूसरों का हिताहित करने पर उत्तरदायी इसलिए हैं कि वह कर्म एवं कर्म-संकल्प हमारा है। दूसरों के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वही हमें उत्तरदायी बनाता है। उसी के आधार पर व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है और उसका फल भोगता है।

§ १३. जैन दर्शन में कर्म की अवस्था

जैन दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर गहराई से विचार हुआ है। प्रमुख रूप से कर्मों की दस अवस्थाएँ मानी गयी हैं—१. बन्ध, २. संक्रमण, ३. उत्कर्षण, ४. अपवर्तन, ५. सत्ता, ६. उदय, ७. उदीरणा, ८. उपशमन, ९. निधत्ति और १०. निकाचना।[1]

१. बन्ध—कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों से

---

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २५४.

जो सम्बन्ध होता है, उसे जैन दर्शन में बन्ध कहा जाता है।[1] इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा एक स्वतन्त्र अध्याय में की गई है।

२. संक्रमण—एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं और जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। यह अवान्तर कर्म-प्रकृतियों का अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण वह प्रक्रिया है जिसमें आत्मा पूर्व-बद्ध कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों, समयावधि, तीव्रता एवं परिमाण (मात्रा) को परिवर्तित करता है। संक्रमण में आत्मा पूर्वबद्ध कर्म-प्रकृति का, नवीन कर्म-प्रकृति का बन्ध करते समय मिलाकर तत्पश्चात् नवीन कर्म-प्रकृति में उसका रूपान्तरण कर सकता है। उदाहरणार्थ, पूर्व में बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय ही सातावेदनीय कर्म-प्रकृति के साथ मिलाकर उसका सातावेदनीय कर्म में संक्रमण किया जा सकता है। यद्यपि दर्शनमोह कर्म की तीन प्रकृतियों मिथ्यात्वमोह, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह में नवीन बन्ध के अभाव में भी संक्रमण सम्भव होता है, क्योंकि सम्यक्त्वमोह एवं मिश्रमोह का बन्ध नहीं होता है, वे अवस्थाएँ मिथ्यात्वमोह कर्म के शुद्धीकरण से होती हैं। संक्रमण कर्मों के अवान्तर भेदों में ही होता है, मूल भेदों में नहीं होता है, अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का आयुकर्म में संक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कुछ अवान्तर कर्म ऐसे हैं जिनका रूपान्तर नहीं किया जा सकता। जैसे दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय कर्म का रूपान्तर नहीं होता। इसी प्रकार कोई नरकायु के बन्ध को मनुष्य आयु के बन्ध में नहीं बदल सकता। नैतिक दृष्टि में संक्रमण की धारणा की दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं—एक तो यह है कि संक्रमण की क्षमता केवल आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। जो आत्मा जितना पवित्र होता है उतनी ही उसकी आत्मशक्ति प्रकट होती है और उतनी उसमें कर्म-संक्रमण की क्षमता भी होती है। लेकिन जो व्यक्ति जितना अधिक अपवित्र होता है, उसमें कर्म-संक्रमण की क्षमता उतनी ही क्षीण होती है और वह अधिक मात्रा में परिस्थितियों (कर्मों) का दास होता है। पवित्र आत्माएँ परिस्थितियों की दास न होकर उनकी स्वामी बन जाती हैं। इस प्रकार संक्रमण की प्रक्रिया आत्मा के स्वातन्त्र्य और दासता को व्यक्ति की नैतिक प्रगति पर अधिष्ठित करती है। दूसरे, संक्रमण की धारणा भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद को सबल बनाती है।

३. उद्वर्तना—आत्मा से कर्म-परमाणुओं के बद्ध होते समय जो काषायिक तारतमता होती है उसी के अनुसार बन्धन के समय कर्म की स्थिति तथा तीव्रता का निश्चय होता है। जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की कालमर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकती है। यही कर्म-परमाणुओं की काल-मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की क्रिया उद्वर्तना कही जाती है।

४. अपवर्तना—जिस प्रकार नवीन बन्ध के समय पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।२-३.

(स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को बढ़ाया जा सकता है, उसी प्रकार उसे कम भी किया जा सकता है और यह कम करने की क्रिया अपवर्तना कहलाती है।

५. **सत्ता**—कर्मों का बन्ध हो जाने के पश्चात् उनका विपाक भविष्य में किसी समय होता है। प्रत्येक कर्म अपने सत्ता-काल के समाप्त होने पर ही फल (विपाक) दे पाता है। जितने समय तक काल-मर्यादा परिपक्व न होने के कारण कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध बना रहता है, उस अवस्था को सत्ता कहते हैं।

६. **उदय**—जब कर्म अपना फल (विपाक) देना प्रारम्भ कर देते हैं, उस अवस्था को उदय कहते हैं। जैन दर्शन यह भी मानता है कि सभी कर्म अपना फल प्रदान तो करते हैं लेकिन कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो फल देते हुए भी भोक्ता को फल की अनुभूति नहीं कराते हैं और निर्जरित हो जाते है। जैन दर्शन मे फल देना और फल की अनुभूति होना ये अलग तथ्य माने गये हैं। जो कर्म बिना फल की अनुभूति कराये निर्जरित हो जाता है, उसका उदय प्रदेशोदय कहा जाता है। जैसे, आपरेशन करते समय अचेतन अवस्था मे शल्य-क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती। कषाय के अभाव में ईर्यापथिक क्रिया के कारण जो बन्ध होता है उसका मात्र प्रदेशोदय होता है। जो कर्म-परमाणु अपनी फलानुभूति करवाकर आत्मा से निर्जरित होते हैं, उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। विपाकोदय की अवस्था में तो प्रदेशोदय होता ही है, लेकिन प्रदेशोदय की अवस्था मे विपाकोदय हो ही, यह अनिवार्य नहीं है।

७. **उदीरणा**—जिस प्रकार समय से पूर्व कृत्रिम रूप से फल को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियत काल से पूर्व ही प्रयासपूर्वक उदय में लाकर कर्मों के फलों को भोग लेना उदीरणा है। साधारण नियम यह है कि जिस कर्म प्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्म-प्रकृति की उदीरणा सम्भव है।

८. **उपशमन**—कर्मो के विद्यमान रहते हुए भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना या उन्हें किसी काल-विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन मे कर्म को ढँकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाता है। जिस प्रकार राख से दबी हुई अग्नि उस आवरण के दूर होते ही पुनः प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार उपशमन की अवस्था के समाप्त होते ही कर्म पुनः उदय में आकर अपना फल देता है। उपशमन में कर्म की सत्ता नष्ट नहीं होती है, मात्र उसे काल-विशेष तक के लिए फल देने में अक्षम बनाया जाता है।

९. **निधत्ति**—कर्म की वह अवस्था निधत्ति है जिसमें कर्म न अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो सकते हैं और न अपना फल प्रदान कर सकते हैं। लेकिन कर्मो की समय-मर्यादा और विपाक-तीव्रता (परिमाण) को कम-अधिक किया जा सकता है अर्थात् इस अवस्था में उत्कर्षण और अपकर्षण सम्भव हैं।

१०. **निकाचना**—कर्मो का बन्धन इतना प्रगाढ़ होना कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता (परिमाण) में कोई परिवर्तन न किया जा सके, न समय के पूर्व उनका भोग

ही किया सके, निकाचना कहा जाता है। इसमें कर्म का जिस रूप में बन्धन हुआ होता है उसी रूप में उसको अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

कर्म की अवस्थाओं पर बौद्ध धर्म की दृष्टि से विचार एवं तुलना

बौद्ध कर्म-विचारणा में जनक, उपस्थम्भक, उपपीलक और उपघातक ऐसे चार कर्म माने गये है। जनक कर्म दूसरा जन्म ग्रहण करवाते हैं, इस रूप में वे सत्ता की अवस्था से तुलनीय हैं। उपस्थम्भक कर्म दूसरे कर्म का फल देने में सहायक होते है, ये उत्कर्पण की प्रक्रिया के सहायक माने जा सकते हैं। उपपीलक कर्म दूसरे कर्मों की शक्ति को क्षीण करते हैं, ये अपवर्तन की अवस्था से तुलनीय हैं। उपघातक कर्म दूसरे कर्म का विपाक रोककर अपना फल देते हैं ये कर्म उपशमन की प्रक्रिया के निकट हैं। बौद्ध दर्शन में कर्म-फल के संक्रमण की धारणा स्वीकार की गयी है। बौद्ध-दर्शन यह मानता है कि यद्यपि कर्म (फल) का विप्रणाश नहीं है, तथापि कर्म-फल का सातिक्रम हो सकता है।[1] विपच्यमान कर्मों का संक्रमण हो सकता है। विपच्यमान कर्म वे हैं जिनको बदला जा सकता है अर्थात् जिनका सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है, यद्यपि फल-भोग अनिवार्य है। उन्हें अनियत-वेदनीय किन्तु नियतविपाककर्म भी कहा जाता है। बौद्ध दर्शन का नियतवेदनीय नियतविपाक कर्म जैन दर्शन के निकाचना से तुलनीय है।

कर्म की अवस्थाओं पर हिन्दू आचारदर्शन की दृष्टि से विचार एवं तुलना

कर्मों की सत्ता, उदय, उदीरणा और उपशमन इन चार अवस्थाओं का विवेचन हिन्दू आचारदर्शन में भी मिलता है। वहाँ कर्मों की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ऐसी तीन अवस्थाएँ मानी गयी है। वर्तमान क्षण के पूर्व तक किये गये समस्त कर्म संचित कर्म कहे जाते है, इन्हें ही अपूर्व और अदृष्ट भी कहा गया है। संचित कर्म के जिस भाग का फलभोग शुरू हो जाता है उसे ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म के दो भाग होते है। जो भाग अपना फल देना प्रारम्भ कर देता है वह प्रारब्ध (आरब्ध) कर्म कहलाता है शेष भाग जिसका फलभोग प्रारम्भ नहीं हुआ है अनारब्ध (संचित) कहलाता है। लोकमान्य तिलक ने 'क्रियमाण कर्म' ऐसा स्वतन्त्र अवस्था-भेद नहीं माना है। वे कहते हैं कि यदि उसका पाणिनिसूत्र के अनुसार भविष्यकालिक अर्थ लेते हैं, तो उसे अनारब्ध कहा जायेगा।[2] तुलना की दृष्टि से कर्म की अनारब्ध या संचित अवस्था ही 'सत्ता' की अवस्था कही जा सकती है। इसी प्रकार प्रारब्ध-कर्म की तुलना कर्म की उदय-अवस्था से की जा सकती है। कुछ लोग नवीन कर्म-संचय की दृष्टि से क्रियमाण नामक स्वतन्त्र अवस्था मानते हैं। क्रियमाण कर्म की तुलना जैन विचारणा के बन्ध्यमान कर्म से की जा सकती है। डा० टाँटिया

---

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २७५।
२. गी.तारहस्य. पृ० २७४.

संचित कर्म की तुलना कर्म की सत्ता अवस्था से, प्रारब्धकर्म की तुलना उदय कर्म से तथा क्रियमाण कर्म की तुलना बन्धमान कर्म से करते हैं।[1] वैदिक परम्परा में कर्म की उपशमन अवस्था की मान्यता का स्पष्ट निर्देश तो नहीं मिलता, फिर भी महाभारत में पाराशरगीता में एक निर्देश है जिसमें कहा गया है कि कभी-कभी मनुष्य का पूर्व-काल में किया गया पुण्य (अपना फल देने की राह देखता हुआ) चुप बैठा रहता है।[2] इस अवस्था की तुलना जैन विचारणा के उपशमन से की जा सकती है।

कर्म की इन विभिन्न अवस्थाओं का प्रश्न कर्मविपाक की नियतता से सम्बन्धित है। अतः इस प्रश्न पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

§ १४. कर्म-विपाक की नियतता और अनियतता

जैन दृष्टिकोण

हमने ऊपर कर्मो की अवस्थाओं पर विचार करते हुए देखा कि कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका विपाक नियत है और उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, जो जैन विचारणा में निकाचित कर्म कहे जाते हैं। जिनका बन्ध जिस विपाक को लेकर होता है उसी विपाक के द्वारा वे क्षय (निर्जरित) होते हैं अन्य किसी प्रकार से नहीं, यही कर्म-विपाक की नियतता है। इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जिनका विपाक उसी रूप में अनिवार्य नहीं होता। उनके विपाक के स्वरूप, मात्रा, समयावधि एवं तीव्रता आदि में परिवर्तन किया जा सकता है, जिन्हें हम अनिकाचित कर्म के रूप में जानते हैं।

जैन विचारणा कर्म-विपाक की नियतता और अनियतता दोनों को ही स्वीकार करती है और बताती है कि कर्मों के पीछे रही हुई कषायों की तीव्रता एवं अल्पता के आधार पर ही क्रमशः नियत-विपाकी एवं अनियत-विपाकी कर्मो का बन्ध होता है। जिन कर्मो के सम्पादन के पीछे तीव्र कषाय (वासनाएँ) होती हैं, उनका बन्ध भी अति प्रगाढ़ होता है और उसका विपाक भी नियत होता है। इसके विपरीत जिन कर्मो के सम्पादन के पीछे कषाय अल्प होती है उनका बन्ध शिथिल होता है और इसीलिए उनका विपाक भी अनियत होता है। जैन कर्म-सिद्धान्त की संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशमन की अवस्थाएँ कर्मो के अनियत विपाक की ओर संकेत करती हैं, लेकिन जैन विचारणा सभी कर्मो को अनियतविपाकी नहीं मानती। जिन कर्मो का बन्ध तीव्र कषाय भावों के फलस्वरूप होता है उन्हें वह नियतविपाकी कर्म मानती है। वैयक्तिक दृष्टि से सभी आत्माओं में कर्मविपाक में परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती। जब व्यक्ति एक आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच जाता है, तभी उसमें कर्म-विपाक को अनियत बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है। फिर भी स्मरण

---

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६०.

२. महाभारत, शान्तिपर्व, २६०।१७.

रखना चाहिए कि व्यक्ति कितनी ही आध्यात्मिक ऊँचाई पर स्थित हो, वह मात्र उन्हीं कर्मों का विपाक अनियत बना सकता है, जिनका बन्ध अनियतविपाकी कर्म के रूप में हुआ है। जिन कर्मों का बन्ध नियतविपाकी कर्मों के रूप में हुआ है उनका भोग अनिवार्य है। इस प्रकार जैन-विचारणा कर्मों के नियतता और अनियतता के दोनों पक्षों को स्वीकार करती है और इस आधार पर अपने कर्म-सिद्धान्त को नियतिवाद और यदृच्छावाद के दोषों से बचा लेती है।

बौद्ध दृष्टिकोण[1]

बौद्ध दर्शन में भी कर्मों के विपाक की नियतता और अनियतता का विचार किया गया है। बौद्ध दर्शन में कर्मों को नियत विपाकी और अनियतविपाकी दोनों प्रकार का माना गया है। जिन कर्मों का फल-भोग अनिवार्य नहीं या जिनका प्रतिसंवेदन आवश्यक नहीं वे कर्म अनियतविपाकी हैं। अनियतविपाकी कर्म के फलभोग का उल्लंघन हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे कर्म जिनका प्रतिसंवेदन या फलभोग अनिवार्य है वे नियतविपाकी कर्म हैं अर्थात् उनके फलभोग का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। कुछ बौद्ध आचार्यों ने नियतविपाकी और अनियतविपाकी कर्मों में प्रत्येक को चार-चार भागों मे विभाजित किया है।

नियतविपाक कर्म

(१) दृष्टधर्मवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् इसी जन्म में अनिवार्य फल देनेवाला कर्म। (२) उपपद्यवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् उपपन्न होकर समन्तर जन्म में अनिवार्य फल देनेवाला कर्म। (३) अपरापर्यवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् विलम्ब से अनिवार्य फल देनेवाला कर्म। (४) अनियत वेदनीय किन्तु नियतविपाक कर्म अर्थात् वे कर्म जो विपच्यमान तो हैं (जिनका स्वभाव बदला जा सकता है एवं सातिक्रमण हो सकता है) किन्तु जिनका भोग अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों के अनुसार नियतविपाक कर्म पर विपाक-काल की नियतता के आधार पर भी विचार किया जा सकता है और ऐसी अवस्था में नियतविपाक कर्म के दो रूप होंगे (१) जिनका विपाक भी नियत है और विपाक-काल भी नियत है तथा (२) वे जिनका विपाक तो नियत हैं, लेकिन विपाक-काल नियत नहीं। ऐसे कर्म अपरापर्यवेदनीय से दृष्टधर्मवेदनीय बन जाते हैं।

अनियतविपाक कर्म

(१) दृष्टधर्मवेदनीय अनियतविपाक कर्म अर्थात् जो इसी जन्म मे फल देनेवाला है लेकिन जिसका फल-भोग आवश्यक नही है। (२) उपपद्यवेदनीय अनियतविपाक कर्म अर्थात् उपपन्न होकर समन्तर जन्म में फल देनेवाला है लेकिन जिसका फलभोग हो यह आवश्यक नही है। (३) अपरापर्य अनियतविपाक कर्म अर्थात् जो देरी से

---

१. बौद्ध धर्म दर्शन, अध्याय १३.

फल देनेवाला है लेकिन जिसका फल-भोग आवश्यक है। (४) अनियतवेदनीय अनियतविपाक कर्म अर्थात् जो अनुभूति और विपाक दानों दृष्टियों से अनियत है।

इस प्रकार बौद्ध विचारक न केवल कर्मों के विपाक में नियतता और अनियतता को स्वीकार करते हैं, वरन् दोनों की विस्तृत व्याख्या भी करते हैं। वे यह भी बताते हैं कि कौन कर्म नियतविपाकी होगा—प्रथमतः वे कर्म जो केवल कृत नहीं किन्तु उपचित भी हैं नियतविपाक कर्म है। कर्म के उपचित होने का मतलब है कर्म का चैत्तसिक के साथ-साथ भौतिक दृष्टि से भी परिसमाप्त होना। दूसरे, वे कर्म जो तीव्र प्रमाद (श्रद्धा) और तीव्र क्लेश (राग-द्वेष) से किये जाते है, नियतविपाक कर्म हैं। बौद्ध दर्शन की यह धारणा जैन दर्शन से बहुत कुछ मिलती है, लेकिन प्रमुख अन्तर यही है कि जहाँ बौद्ध दर्शन तीव्र श्रद्धा और तीव्र राग-द्वेष दोनों अवस्था में होनेवाले कर्म को नियतविपाकी मानता है, वहाँ जैन दर्शन मात्र राग-द्वेप (कषाय) की अवस्था में किये हुए कर्मो को ही नियतविपाकी मानता है। तीव्र श्रद्धा की अवस्था में किए गये कर्म जैन दर्शन के अनुसार नियतविपाकी नहीं हैं। हाँ, यदि तीव्र श्रद्धा के साथ प्रशस्त राग होता है तो शुभ कर्म बन्ध तो होता है लेकिन वह नियतविपाकी ही हो, यह अनिवार्य नही है। दोनों ही इस बात में सहमत है कि मातृवध, पितृवध तथा धर्म, संघ और तीर्थ तथा धर्मप्रवर्तक के प्रति किये गये अपराध नियतविपाकी होते हैं।

गीता का दृष्टिकोण

वैदिक परम्परा में यह माना गया है कि संचित कर्म को ज्ञान के द्वारा बिना फलभोग के ही नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार वैदिक परम्परा कर्मविपाक की अनियतता को स्वीकार कर लेती है। ज्ञानाग्नि सब कर्मो को भस्म कर देती है।[1] अर्थात् ज्ञान के द्वारा संचित कर्मो को नष्ट किया जा सकता है, यद्यपि वैदिक परम्परा में आरब्ध कर्मो का भोग अनिवार्य माना गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा में कर्म विपाक की नियतता और अनियतता दोनों स्वीकार की गई हैं। फिर भी उसमें संचित कर्मों की दृष्टि से नियतविपाक का विचार नहीं मिलता। सभी संचित कर्म अनियत-विपाकी मान लिये गये हैं।

निष्कर्ष

वस्तुतः कर्म-सिद्धान्त में कर्मविपाक की नियतता और अनियतता की दोनों विरोधी धारणाओं के समन्वय के अभाव में नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं होती है। यदि एकान्त रूप से कर्म-विपाक की नियतता को स्वीकार किया जाता है तो नैतिक आचरण का चाहे निषेधात्मक कुछ मूल्य बना रहे, लेकिन उसका विधायक मूल्य पूर्णतया समाप्त हो जाता है। नियत भविष्य के बदलने की सामर्थ्य नैतिक जीवन में नहीं रह पाती है। दूसरे, यदि कर्मो को पूर्णतः अनियतविपाकी माना जावे तो

१. ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते–गीता, ४।३७.

नैतिक व्यवस्था का ही कोई अर्थ नहीं रहता है। विपाक की पूर्ण नियतता मानने पर निर्धारणवाद और विपाक की पूर्ण अनियतता मानने पर अनिर्धारणवाद की सम्भावना होगी, लेकिन दोनों ही धारणाएँ ऐकान्तिक रूप में नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं। अतः कर्म-विपाक की नियतत्तानियतता ही एक तर्कसंगत दृष्टिकोण है, जो नैतिक दर्शन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

इसके पूर्व कि हम इस अध्याय को समाप्त करें हमें कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों के आक्षेपों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

§ १५. कर्म-सिद्धान्त पर आक्षेप और उनका प्रत्युत्तर

कर्म-सिद्धान्त को अस्वीकार करनेवाले विचारकों के द्वारा कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपेध के लिए प्राचीन काल से ही तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उन विचारकों के द्वारा दिये जाने वाले कुछ तर्कों का दिग्दर्शन कराया है। कर्म-सिद्धान्त के विरोध में उन विचारकों का निम्न तर्क है, "एक प्रस्तरखण्ड जब प्रतिमा के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अंगराग, माला, वस्त्र और अलंकारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूप प्रस्तरखण्ड ने कौन-सा पुण्य किया था? एक अन्य प्रस्तर खण्ड जिस पर उपविष्ट होकर लोग मल-मूत्र-विसर्जन करते हैं, उसने कौन-सा पाप-कर्म किया था? यदि प्राणी कर्म से ही जन्म ग्रहण करते हैं और मरते हैं, फिर जल के बुदबुद किस शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं?"[1]

कर्म-सिद्धान्त के विरोध में दिया गया यह तर्क वस्तुतः एक भ्रान्त धारणा पर खड़ा हुआ है। कर्म-सिद्धान्त का नियम शरीरयुक्त चेतन प्राणियों पर लागू होता है, जबकि आलोचक ने अपने तर्क जड़ पदार्थों के सन्दर्भ में दिये हैं। कर्म-सिद्धान्त का नियम जड़ जगत् के लिए नहीं है। अतः जड़ जगत् के सम्बन्ध में दिये हुए तर्क उस पर कैसे लागू हो सकते हैं। यदि हम जैन दृष्टिकोण के आधार पर उन्हें जीवनयुक्त मानें तो भी यह आक्षेप असत्य ही सिद्ध होता है। क्योंकि जीवनयुक्त मानने पर यह भी सम्भव है कि उन्होंने पूर्व जीवन में कोई ऐसा शुभ या अशुभ कर्म किया होगा जिसका परिणाम वे प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों से यह आक्षेप समुचित प्रतीत नहीं होता।

कर्म-सिद्धान्त पर मेकेंजी के आक्षेप और उनका प्रत्युत्तर

पाश्चात्य आचारदर्शन के प्रमुख विद्वान् जान मेकेंजी ने अपनी पुस्तक हिन्दू एथिक्स में कर्म-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप किये हैं—

१. कर्म-सिद्धान्त में अनेक ऐसे कर्मों को भी शुभाशुभ फल देनेवाला मान लिया गया है जिन्हें सामान्यतया नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा नहीं कहा जाता है।[2]

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १।१।३३५-३६.

२. हिन्दू एथिक्स, पृ० २१८.

वस्तुतः मेकेंजी का यह आक्षेप कर्म-सिद्धान्त पर न होकर मात्र प्राच्य और पाश्चात्य आचारदर्शन के अन्तर को स्पष्ट करता है। पाश्चात्य विचारणा में अनेक प्रकार के धार्मिक क्रिया-कर्मों, निषेधात्मक एवं वैयक्तिक सद्गुणों—जैसे उपवास, ध्यानादि तथा पशु जगत् में प्रदर्शित सहानुभूति एवं करुणा को नैतिक दृष्टि से शुभाशुभ नहीं माना गया है। लेकिन दृष्टिकोण का भेद है। क्योंकि पाश्चात्य आचारदर्शन नीतिशास्त्र को मानव समाज के पारस्परिक व्यवहारों तक सीमित करता है, अतः यह दृष्टिभेद स्वाभाविक है। भारतीय चिन्तन का आचारदर्शन के प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण इन्हें नैतिक मूल्य प्रदान कर देता है।

२. मैकेंजी का दूसरा आक्षेप यह है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुरस्कार और दण्ड दो बार दिये जाते हैं। एक बार स्वर्ग और नरक में, और दूसरी बार भावी जन्म में।[1]

मैकेंजी का यह आक्षेप परलोक की धारणा को नहीं समझ पाने के कारण है। भावी जन्म में स्वर्ग और नरक के जीवन भी सम्मिलित हैं। कोई भी कर्म केवल एक ही बार अपना फल प्रदान करता है। या तो वह अपना फल स्वर्गीय जीवन में देया नारकीय जीवन में अथवा इसी लोक में मानवीय एवं पाशविक जीवनों में।

३. कर्म-सिद्धान्त ईश्वरीय कृपा के विचार के विरोध में जाता है।[2]

जहाँतक मेकेंजी के इस आक्षेप का प्रश्न है, जैन और बौद्ध दृष्टिकोण निश्चित रूप से अपने कर्म-सिद्धान्त की धारणा में ईश्वरीय कृपा को कोई स्थान नहीं देते हैं। जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपने विकास और पतन का कारण बनता है, अतः उसके लिए ईश्वरीय कृपा का कोई अर्थ नहीं है। गीता में ईश्वरीय कृपा का स्थान है, लेकिन साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि ईश्वर कर्म-नियम के अनुसार ही व्यवहार करता है। यह सत्य है कि कर्म-सिद्धान्त और ईश्वरीय कृपा ये दो धारणाएँ एक-दूसरे के विरोध में जाती हैं, लेकिन गीता के अनुसार यह मान लिया जाय कि ईश्वर कर्म-नियम के अनुसार शासन करता है, तो दोनों धारणाओं में कोई विरोध नहीं रह जाता है। कर्म-सिद्धान्त किसी ईश्वर की कृपा की भीख की अपेक्षा आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाता है।

४. कर्म-सिद्धान्त में लोकहित के लिए उठाये गये कष्ट और पीड़ा की प्रशंसा निरर्थक है।[3] इस आक्षेप से मेकेंजी का तात्पर्य यह है कि यदि कर्म-सिद्धान्त में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति लोकहित के कार्य करता है तो भी वह प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह वस्तुतः लोकहित नहीं वरन् स्वहित ही कर रहा है। उसके द्वारा किये गये लोकहित के कार्यों का प्रतिफल उसे मिलनेवाला है। कर्म-सिद्धान्त के

---

१. हिन्दू एथिक्स पृ० २२०.

२. वहीं, पृ० २२३.

३. वहीं, पृ० २२४.

अनुसार लोकहित में भी स्वार्थ-बुद्धि होती है, अतः लोकहित के कार्य प्रशंसनीय नहीं माने जा सकते।

यद्यपि यह सत्य है कि कर्म-सिद्धान्त में आस्था रखने पर लोकहित में भी स्वार्थ-बुद्धि हो सकती है और इस आधार पर व्यक्ति का लोकहित का कर्म प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता। स्वार्थ-बुद्धि से किये गये लोकहित कर्मों को भारतीय आचारदर्शनों में भी प्रशंसनीय नहीं कहा गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें लोकहित का कोई स्थान नहीं है। भारतीय आचारदर्शनों में तो निष्काम-बुद्धि से किया गया लोकहित ही सदैव प्रशंसनीय माना गया है।

इस प्रश्न पर पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार कर लिया जाय। यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से भारतीय आचारदर्शन अपने कर्म-सिद्धान्त के द्वारा यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति किसी भी दूसरे का हित-अहित नहीं कर सकता, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से या निमित्त कारण की दृष्टि से यह अवश्य माना गया है कि व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख का निमित्त कारण बन सकता है और इस आधार पर उसका लोक-हित प्रशंसनीय भी माना जा सकता है। व्यावहारिक नैतिकता की दृष्टि से लोकहित का महत्त्व भारतीय आचारदर्शनों में स्वीकृत रहा है। डॉ० दयानन्द भार्गव के शब्दों में आध्यात्मिक आत्मसाक्षात्कार, न कि समाजसेवा, जीवन का परम साध्य है; लेकिन समाजसेवा आध्यात्मिक आत्मसाक्षात्कार की सीढ़ी का प्रथम पत्थर ही सिद्ध होती है।[1]

५. मैकेंजी के विचार में कर्म-सिद्धान्त के आधार पर मानव जाति की पीड़ाओं एवं दुःखों का कोई कारण नहीं बताया जा सकता।[2] इस आक्षेप का समाधान यह है कि कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता। उसका कोई न कोई कारण तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यदि मानवता की पीड़ा का कारण व्यक्ति नहीं है तो या तो उसका कारण ईश्वर होगा या प्रकृति। यदि इसका कारण ईश्वर है तो वह निर्दयी ही सिद्ध होगा और यदि इसका कारण प्रकृति है तो मनुष्य के सम्बन्ध में यान्त्रिकता की धारणा को स्वीकार करना होगा। लेकिन मानव-व्यवहार के यान्त्रिकता के सिद्धान्त में नैतिक और जीवन के उच्च मूल्यों का कोई स्थान नहीं रहेगा। अतः मानवता की पीड़ा का कारण व्यक्ति को ही मानना पड़ेगा। समग्र मानवता की पीड़ा का कारण प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही है। जैन-विचारणा में इस सम्बन्ध में सामुदायिक कर्म की धारणा को स्वीकार किया गया है जिसका बन्धन और विपाक दोनों ही समग्र समाज के सदस्यों को एक साथ होता है। यही एक ऐसी धारणा है जो इस आक्षेप का समुचित समाधान कर सकती है।

---

१. जैन ऐथिक्स, पृ० २०.

२. वही, पृ० २७.

६. मेकेंजी के विचार में कर्म-सिद्धान्त यान्त्रिक रूप में कार्य करता है और कर्म के मनोवैज्ञानिक पक्ष या प्रयोजन को विचार में नहीं लेता है।[1]

मेकेंजी का यह दृष्टिकोण भी भ्रान्तिपूर्ण ही है। कर्म-सिद्धान्त कर्म के मनोवैज्ञानिक पक्ष या कर्ता के प्रयोजन को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। कर्म के मानसिक पक्ष के अभाव में तो बौद्ध और वैदिक विचारणाओं में कोई बन्धन ही नहीं माना गया है। यद्यपि जैन विचारणा ईर्यापथिक बन्ध के रूप में कर्म के बाह्य पक्ष को स्वीकार करती है, लेकिन उसके अनुसार भी बन्धन का प्रमुख कारण तो यही मनोवैज्ञानिक पक्ष है। जैन साहित्य में तन्दुल मत्स्य की कथा स्पष्ट रूप से यह बताती है कि कर्म की बाह्य क्रियान्विति के अभाव में भी मात्र वैचारिक या मनोवैज्ञानिक पक्ष ही बन्धन का सृजन कर देता है, अतः कर्म-सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक पक्ष या कर्म के मानसिक पहलू की उपेक्षा नहीं हुई है।

इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त पर किये जानेवाले आक्षेप नैतिकता की दृष्टि से निर्बल ही सिद्ध होते हैं। कर्म-सिद्धान्त में अनन्य आस्था रखकर ही नैतिक जीवन में आगे बढ़ा जा सकता है।

□

---

१. जैन एथिक्स, पृ० ८७.

कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व

§ १. तीन प्रकार के कर्म

जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति ठीक है, लेकिन जैन दर्शन मे सभी कर्म अथवा क्रियाएँ समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं—एक को कर्म कहा गया है, दूसरे को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाएँ कर्म की कोटि में आती हैं और ईर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की कोटि में आती हैं। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं। उन्हें अतिनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आनेवाले सभी कर्म भी एकसमान नहीं होते हैं। उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य-कर्म और पाप-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) (२) पुण्य-कर्म और (३) पाप-कर्म। बौद्ध दर्शन में भी तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं—(१) अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म (२) कुशल या शुक्ल कर्म और (३) अकुशल या कृष्ण कर्म। गीता में भी तीन प्रकार के कर्म निरूपित हैं—(१) अकर्म (२) कर्म (कुशल कर्म) और (३) विकर्म (अकुशल कर्म)। जैन दर्शन का ईर्यापथिक कर्म, बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म समान है। इसी प्रकार जैन दर्शन का पुण्य कर्म, बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म भी समान है। जैन दर्शन का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) अतिनैतिक (२) नैतिक और (३) अनैतिक। जैन दर्शन का ईर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है, और पापकर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म अतिनैतिक शुभ कर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध दर्शन में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहा गया है। इन्हें निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

कर्म	पाश्चात्य आचारदर्शन	जैन	बौद्ध	गीता
१. शुद्ध	अतिनैतिक कर्म	ईर्यापथिक कर्म	अव्यक्त कर्म	अकर्म
२. शुभ	नैतिक कर्म	पुण्य कर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म
३. अशुभ	अनैतिक कर्म	पाप-कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म

आध्यात्मिकता या नैतिक पूर्णता के लिए हमें क्रमशः अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर और शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढ़ना होगा। आगे हम इसी क्रम से उनपर थोड़ी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

§ २. अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा की है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडनं)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दृष्टिकोण—जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं—१. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद (असत्य भाषण) ३. अदत्तादान (चौर्य कर्म), ४. मैथुन (काम-विकार), ५. परिग्रह (ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय-वृत्ति), ६. क्रोध (गुस्सा), ७. मान (अहंकार), ८. माया (कपट, छल, षड़यन्त्र और कूटनीति), ९. लोभ (संचय या संग्रह की वृत्ति), १०. राग (आसक्ति), द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), ११. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), १२. अभ्याख्यान (दोषारोपण), १३. पिशुनता (चुगली), १४. पर-परिवाद (परनिन्दा), १५. रति-अरति (हर्ष और शोक), १६. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), १७. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।[2]

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधारों पर निम्न १० प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है।[3]

(अ) **कायिक पाप**—१. प्राणातिपात (हिंसा), २. अदत्तादान (चोरी), ३. कामेसुमिच्छाचार (कामभोग सम्बन्धी दुराचार)।

(ब) **वाचिक पाप**—४. मुसावाद (असत्य भाषण), ५. पिसुनावाचा (पिशुन वचन), ६. फरूसावाचा (कठोर वचन), ७. सम्फलाप (व्यर्थ आलाप)।

(स) **मानसिक पाप**—८. अभिज्जा (लोभ) ९. व्यापाद (मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन), १०. मिच्छादिट्ठी (मिथ्या दृष्टिकोण)।

---

१. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ५, पृ० ८७६.
२. जैन सिद्धान्त बोल-संग्रह, भाग ३, पृ० १८२.
३. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४८०.

अभिधम्मत्थसंगहो में निम्न १४ अकुशल चैतसिक बताये गये हैं[1]—

१. मोह (चित्त का अन्धापन), मूढता, २. अहिरिक (निर्लज्जता), ३. अनोत्तप्पं-अ-भीरुता (पाप कर्म में भय न मानना), ४. उद्धच्चं-उद्धतपन (चंचलता), ५. लोभो (तृष्णा), ६. दिट्ठि-मिथ्यादृष्टि, ७. मानो-अहंकार, ८. दोसो-द्वेष, ९ इस्सा-ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), १०. मच्छरियं-मात्सर्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च-कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा-विचिकित्सा (संशय)।

गीता का दृष्टिकोण

गीता में भी जैन और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत इन पापाचरणों या विकर्मों का उल्लेख आसुरी सम्पदा के रूप में किया गया है। गीतारहस्य में तिलक ने मनुस्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है।[2]

(अ) कायिक—१. हिंसा, २. चोरी, ३. व्यभिचार।

(ब) वाचिक—४. मिथ्या (असत्य), ५. ताना मारना, ६. कटु वचन, ७. असंगत वाणी।

(स) मानसिक—८. परद्रव्य की अभिलाषा, ९. अहित-चिन्तन, १०. व्यर्थ आग्रह।

पाप के कारण

जैन विचारकों के अनुसार, पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—(१) राग (आसक्ति), (२) द्वेष (घृणा), (३) मोह (अज्ञान)। जीव राग, द्वेष और मोह से ही पापकर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—(१) लोभ (राग), (२) द्वेष और (३) मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

§ ३. पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं—शुभास्रव पुण्य है।[3] लेकिन पुण्य मात्र आस्रव नहीं है, वह बन्ध और विपाक भी है। वह हेय ही नहीं है, उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[4] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप)

१. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १९-२०.
२. मनुस्मृति, १२।५-७.
३. तत्त्वार्थसूत्र, ६।४.
४. योगशास्त्र, ४।१०७.

कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका मे मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[1] आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं, "पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[2] जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि "जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।"[3]

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[4] स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं[5]—

१. अन्नपुण्य—भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
२. पानपुण्य—तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३. लयनपुण्य—निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४. शयनपुण्य—शय्या, बिछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य—वस्त्र का दान देना।
६. मनपुण्य—मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
७. वचनपुण्य—प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।

---

१. स्थानांग टीका, १ ११-१२.
२. जैन धर्म, पृ० ८४.
३. समयसार नाटक उत्थानिका, २८.
४. भगवतीसूत्र, ७.१०।१२१.
५. स्थानांगसूत्र, ९.

८. कायपुण्य—रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
९. नमस्कारपुण्य—गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचारदर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्तनिकाय में कहा गया है, अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थसंगहो में (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष (मैत्री), (७) समभाव, (८) मन की पवित्रता शरीर की प्रसन्नता, (१०) मन का हलकापन, (११) शरीर का हलकापन, मन की मृदुता, (१२) शरीर की मृदुता, (१३) मन की सरलता, शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[1]

जैन और बौद्ध दर्शन में पुण्यविषयक विशेष अन्तर यह है कि जैन दर्शन में संवर, निर्जरा और पुण्य में अन्तर किया गया है, किन्तु बौद्ध दर्शन में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैनाचारदर्शन में सम्यक्दर्शन (श्रद्धा), सम्यक्ज्ञान (प्रज्ञा) और सम्यक्चारित्र (शील) संवर और निर्जरा के अन्तर्गत हैं और बौद्ध आचारदर्शन में धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत है।

§ ४. पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं—(१) कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (२) कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्टरूप से कहती है कि जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डाले तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।[2] धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[3] बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आर्द्रक सम्वाद में भी मिलता है।[4] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का

---

१. अभिधम्मत्थसंगहो, चैतसिक विभाग.
२. गीता, १८।१७.
३. धम्मपद, २४९.
४. सूत्रकृतांग, २।६।२७-४२.

कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका मे मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[1] आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं, "पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[2] जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते है कि "जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।"[3]

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[4] स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं[5]—

१. अन्नपुण्य—भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
२. पानपुण्य—तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३. लयनपुण्य—निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४. शयनपुण्य—शय्या, बिछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य—वस्त्र का दान देना।
६. मनपुण्य—मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
७. वचनपुण्य—प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।

---

१. स्थानांग टीका, १ ११-१२.
२. जैन धर्म, पृ० ८४.
३. समयसार नाटक उत्थानिका, २८.
४. भगवतीसूत्र, ७।१०।१२१.
५. स्थानांगसूत्र, ६.

८. कायपुण्य—रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
९. नमस्कारपुण्य—गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचारदर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्तनिकाय में कहा गया है, अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थसंगहो में (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष (मैत्री), (७) समभाव, (८) मन की पवित्रता शरीर की प्रसन्नता, (१०) मन का हलकापन, (११) शरीर का हलकापन, मन की मृदुता, (१२) शरीर की मृदुता, (१३) मन की सरलता, शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[1]

जैन और बौद्ध दर्शन में पुण्यविषयक विशेष अन्तर यह है कि जैन दर्शन में संवर, निर्जरा और पुण्य में अन्तर किया गया है, किन्तु बौद्ध दर्शन में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैनाचारदर्शन में सम्यक्दर्शन (श्रद्धा), सम्यक्ज्ञान (प्रज्ञा) और सम्यक्चारित्र (शील) संवर और निर्जरा के अन्तर्गत हैं और बौद्ध आचारदर्शन में धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत हैं।

§ ४. पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं—(१) कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (२) कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्टरूप से कहती है कि जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डाले तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।[2] धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[3] बौद्ध दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आर्द्रक सम्वाद में भी मिलता है।[4] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का

१. अभिधम्मत्थसंगहो, चैतसिक विभाग.
२. गीता, १८।१७.
३. धम्मपद, २४९.
४. सूत्रकृतांग, २।६।२७-४२.

आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं, 'शुभ-अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही है। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डॉक्टर अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[1] पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्य-बंध और पाप-बंध की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें कर्म का बाह्य-स्वरूप उपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियाँ ही कर्मो की शुभाशुभता की निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग में आर्द्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो—चाहे न जानते हुए ही खाता हो—तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष (पाप) नहीं लगता ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है ?[3] इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मो का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक-व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वय जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज-सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आंतरिक) दोनों का मूल्य है। योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति ही प्रमुख कारण है। वह वृत्ति और क्रिया में विभेद नहीं मानती। उसकी समन्वयवादी दृष्टि मे मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं। मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या सयमी पुरुषों का लक्षण है ? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्मप्रवंचना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देनेवाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है, "कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बतानेवाले इस

१. जैन धर्म, पृ० १६०.
२. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० २२६.
३. सूत्रकृतांग, २।६।२७-४२.

वाद को माननेवाले कितने ही लोग संसार में फँसते रहते हैं कि पाप लगने के तीन स्थान हैं—स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप-मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना-निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े हैं।[1]

पाश्चात्य आचारदर्शन में भी सुखवादी दार्शनिक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जब कि मार्टिन्यू कर्मप्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन दर्शन के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य है—एक का आधार लोकदृष्टि है तथा दूसरी का आधार परमार्थ-दृष्टि या शुद्धदृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होनेवाले परिणाम को, दोनों स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य-कर्म या उचित कर्म कहा जायेगा और किस प्रकार का कर्म पाप-कर्म या अनुचित कर्म कहा जायेगा, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति-सापेक्ष है, वहाँ पुण्य-पाप का विचार समाज-सापेक्ष है। जब हम कर्म-अकर्म या कर्मबन्ध का विचार करते हैं, तो वैयक्तिक कर्म-प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है। लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाजकल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है। उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवनदृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धन या अबन्धन का आधार है। लेकिन शुभ और अशुभ दोनों में ही राग तो होता ही है, राग के अभाव में तो कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक (शुद्ध) होगा। शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं, वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त-राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त-राग अशुभ या पापबन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष की कमी के आधार पर निर्भर करती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, यथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी वह राग उतना प्रशस्त

---

१. सूत्रकृतांग, १।१।२४-२९.

होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी, राग उतना ही अप्रशस्त होगा ।

द्वेषविहीन राग या प्रशस्त राग ही निष्काम प्रेम कहा जाता है । उस प्रेम से परार्थ या परोपकारवृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है । उसी से लोक-मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य-कर्म निस्सृत होते हैं, जबकि द्वेषयुक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ-वृत्ति का विकास करता है । उससे अशुभ, अमंगलकारी पापकर्म निस्सृत होते हैं । संक्षेप मे जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होता है वह पुण्य कर्म है और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होता है वह पाप कर्म है ।

जैन आचारदर्शन पुण्य कर्मो के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक जोर देता है वे सभी समाज-सापेक्ष हैं । वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है । भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है ।' जैन विचारकों ने पुण्य-बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया हैं उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक-मंगल से हैं । इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक-अमंगलकारी तत्त्व है ।[1] इस प्रकार जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है, हमें सामाजिक सदर्भ में उसे देखना होगा; यद्यपि बन्धन की दृष्टि से विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता ।

§ ५. सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार

यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किये गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे होता है । लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा अशुभ होगा इनका निर्णय किस आधार पर किया जाये ? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जैसा व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते है वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमे अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है । इसके विपरीत जो व्यवहार हमें अपने लिए प्रतिकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अपने लिए अनुकूल लगता हैं वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नही करना अशुभाचरण है । भारतीय ऋषियों का यही सदेश है । संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है ।

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत्

---

१. देखिए-अठारह पाप स्थान, प्रतिक्रमण सूत्र ।

दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का सृष्टा है।[1] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।[2] सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।[3] सभी को जीवित रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सभी को अपने प्राण प्रिय है। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[4]

बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ, इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।[5] धम्मपद में भी यही कहा है कि सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है; अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करे। सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से जो दुःख देता है वह मरकर सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता वह मरकर सुख को प्राप्त होता है।[6]

हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण

मनुस्मृति, महाभारत तथा गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है वही परमयोगी है।[7] महाभारत में अनेक स्थानों पर इस विचार का समर्थन मिलता है। उसमें कहा गया है कि जैसा अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे।[8] त्याग-दान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।[9] जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने जैसा व्यवहार करता है वही स्वर्ग

---

१. अनुयोगद्वारसूत्र, १२९.
२. दशवैकालिक, ४।९.
३. सूत्रकृतांग, २।२।४, पृ० १०४.
४. दशवैकालिक, ६।११.
५. सुत्तनिपात, ३७।२७.
६. धम्मपद, १२९, १३१, १३२.
७. गीता, ६।३२.
८ महाभारत शांति पर्व, २५८।२१.
९. महाभारत अनुशासन पर्व, ११३।८-१०.

के सुखों को प्राप्त करता है।[१] जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति किया जाय। हे युधिष्ठिर, धर्म और अधर्म की पहचान का यही लक्षण है।[२]

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य चिन्तन में भी सामाजिक जीवन में दूसरों के प्रति व्यवहार करने का यह दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो। कांट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा करते हो। मानवता, चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के, सदैव साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो।[3] कांट के इस कथन का आशय भी यही है कि नैतिक जीवन के संदर्भ में सभी को अपने समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।

§ ६. शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन दृष्टिकोण

जैन विचारणा में शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्व नौ हैं जिनमें पुण्य और पाप स्वतंत्र तत्त्व हैं।[४] तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सात तत्त्व गिनाये हैं, इनमें पुण्य और पाप को नहीं गिनाया है।[५] लेकिन यह विवाद महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं हैं, वरन् उनका बंध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आस्रव के शुभास्रव और अशुभास्रव ये दो विभाग करने से काम नहीं बनता, बल्कि बंध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण-मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

---

१. महाभारत अनुशासन पर्व, ११३।६-१०.

२. सुभाषित संग्रह से उद्धृत.

३. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २६८ पर उद्धृत.

४. उत्तराध्ययनसूत्र, २८।१४.

५. तत्त्वार्थसूत्र, १।४.

ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है, पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण कहकर दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार में वे कहते है कि अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म संसार (बन्धन) का कारण है जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह-बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं।[2] फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण-बेड़ी कहकर उसकी पाप से किञ्चित् श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।[3] यही बात पं० जयचन्द्रजी भी कहते हैं—

पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुई मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि ।।[4]

जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण की दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को त्यागना ही होता है, फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म-दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है, उसे भी छोड़ना होता है। जिस प्रकार साबुन मैल को दूर करता है और मैल छूटने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापरूप मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। अतः व्यक्ति जब अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है, तब उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निस्सृत होते हैं, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपर्युक्त क्रियाएँ जब अनासक्तभाव से की जाती हैं, तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव या फलाकांक्षा (निदान अर्थात उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं, तो वे कर्म क्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं, चाहे वह सुखद

---

१. इसिभासियं सुत्त, ६।२.
२. समयसार, १४५-१४६.
३. प्रवचनसारटीका, १।७२.
४. समयसारटीका, पृ० २०७.

फल के रूप में क्यों न हों। जैनाचारदर्शन में राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्तिपूर्वक किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का कारण माना गया है। यहाँ पर गीता का अनासक्त कर्म-योग जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर शुभ से शुद्धकर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है और इस प्रकार वह भी समान विचारों का प्रतिपादन करता है। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात में कहते हैं कि जो पुण्य और पाप को दूर कर शांत (सम) हो गया है, इस लोक और परलोक (के यथार्थ स्वरूप) को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा (तथता) कहलाता है।[1] सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध-वंदना में यही बात दोहरायी गयी है। वह बुद्ध के प्रति कहता है, 'जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आप पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते।[2] इस प्रकार बौद्ध दर्शन का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

गीता का दृष्टिकोण

गीताकार ने भी यह संकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों से मुक्त होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन, तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है अथवा तप करता है वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्वभाव मत रख। इस प्रकार संन्यास-योग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बन्धन से छूट जायेगा और मुझे प्राप्त होवेगा।[3] गीताकार स्पष्ट करता है कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। बुद्धिमान् मनुष्य शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनों को त्याग देता है।[4] सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो शुभ और अशुभ दोनो का परित्याग कर चुका है अर्थात् जो दोनों से ऊपर उठ चुका है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।[5] डा० राधाकृष्णन् ने गीता के परिचयात्मक निबन्ध में भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया। वे आचार्य कुन्दकुन्द के साथ समस्वर होकर

---

१. सुत्तनिपात, ३२।११.
२. वही, ३२।३८.
३. गीता, ९।२८.
४. वही, २।५०.
५ वही, १२।१६.

कहते हैं, चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बँधे हों या बुरी इच्छाओं के, बन्धन तो दोनों ही हैं। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजीरों में हम बँधे हैं वे सोने की हैं या लोहे की।[1] जैन दर्शन के समान गीता भी यही कहती है कि जब पुण्य कर्मों के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाता है, तब वह पुरुष राग-द्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होकर दृढ़ निश्चयपूर्वक मेरी भक्ति करता है।[2] इस प्रकार गीता भी नैतिक जीवन के लिए अशुभ से शुभ कर्म की ओर और शुभ कर्म से शुद्ध या निष्काम कर्म की ओर बढ़ने का संकेत देती है। गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन-दृष्टि का निर्माण है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

अनेक पाश्चात्य विचारकों ने नैतिक जीवन की पूर्णता के लिए शुभाशुभ से परे जाना आवश्यक माना है। ब्रेडले का कहना है कि नैतिकता हमें शुभाशुभ से परे ले जाती है।[3] नैतिक जीवन के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म-पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नहीं रहना चाहिए। अतः पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमें नैतिकता (शुभाशुभ) के क्षेत्र से ऊपर उठना होगा। ब्रेडले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है। उसके अनुसार, नैतिकता का अन्त धर्म में होता है, जहाँ व्यक्ति शुभाशुभ के द्वंद्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते हैं कि अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहाँ से ही आरम्भ होती है। यहाँ पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।[4]

ब्रेडले ने नैतिकता और धर्म में जो भेद किया, वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता में किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। यहाँ आचरण की दृष्टि समाज-सापेक्ष होती है और लोक-मंगल ही उसका साध्य है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) है, यह व्यक्ति-सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

§ ७. शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म वह जीवन-व्यवहार है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालतीं। अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म हैं। जैन, बौद्ध और

---

१. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५६.

२. गीता, ७।२८.

३. एथिकल स्टडीज, पृ० ३१४.

४. वही, पृ० ३४२.

गीता के आचारदर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते है कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन में क्या सम्बन्ध है ? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति सर्वांगतः सत्य है ? जैन, बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों में यह उक्ति कि 'कर्म से प्राणी बन्धन में आता है' निरपेक्ष सत्य नहीं है। एक तो कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं, फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या हैं, अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या हैं और अकर्म (अबंधक कर्म) क्या है, इसके विषय में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।[1] कर्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का विषय अत्यन्त गहन है। यह कर्म-समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म-बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।[2] बन्धन की दृष्टि से कर्म का विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म मे कर्ता के प्रयोजन को, जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता।

लेकिन, कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है, यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे, क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। कृष्ण अर्जुन से कहते है कि मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जायेगा।[3] नैतिक विकास के लिए बंधक और अबंधक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बंधन की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

§ ८. जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उसपर दो दृष्टियों से विचार किया

---

१. गीता, ४।१६.
२. सूत्रकृतांग, १।८।२२-
३. गीता, ४।१६.

जा सकता है। (१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं, और कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन दर्शन में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है, जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि 'कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव' ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं कि प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[2] ऐसा कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता नहीं, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जागृति की दशा में क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं, वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय-भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार, राग-द्वेष एवं कषाय (जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है) ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या बन्धनकारक क्रियाएँ हैं वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।[3] इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन दर्शन में बन्धन की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है—(१) ईर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म)। ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धनकारक नहीं हैं और साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं बन्ध की कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा की हेतु हैं, अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर-निर्वाह के लिए किया जानेवाला कर्म। और कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोहसहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया या व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है वह बन्धन में डालता है इसलिए वह

१. सूत्रकृतांग, १।८।१-२.
२. वही, १।८।३.
[illegible]ग, १।४।२।१.

कर्म है और जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्त्तव्य या शरीर-निर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन-परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है, उन्हे बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। इस सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

§ ९ बौद्ध दर्शन में कर्म-अकर्म का विचार

बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में विचार किया गया है।[१] बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित होने का तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विपाकोदयी कर्म से और बौद्धपरम्परा का अनुपचित-कर्म जैनपरम्परा के प्रदेशोदयीकर्म (ईर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्मविभंग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

१. वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं—वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म-संकल्प जो कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाये, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प किया हो, लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।

२. वे कर्म जो कृत भी हैं और उपचित हैं—वे समस्त ऐच्छिक कर्म जिनको संकल्प-पूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ हो सकते हैं।

३. वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं—अभिधर्मकोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात् अपना फल नहीं देते हैं —

(अ) वे कर्म जिन्हें संकल्पपूर्वक नहीं किया गया है, अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित नहीं होते हैं।

(ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते है। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें विचारप्रेरित कर्म (आइडियो मोटर एक्टीविटी) कहा जा सकता है।

(स) भ्रान्तिवश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता।

(द) कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो, तो उस पाप का प्रकाशन करके पाप-विरति का व्रत लेने से वह कृतकर्म उपचित नहीं होता।

१. देखें-डेव्हलपमेन्ट आफ मॉरल फिलासफी इन इंडिया, पृ० १६८-१७४.

(ई) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्धादि के शरणागत हो जाने से) भी पापकर्म उपचित नहीं होता ।

४. वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं—स्वप्नावस्था में किये गये कर्म इसी प्रकार के होते हैं ।

इस प्रकार प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं और अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते ।

बौद्ध आचारदर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर ही कर्म को बन्धन-कारक माना जाता है और राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धनकारक नहीं माना जाता । बौद्धदर्शन राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत् के क्रिया-व्यापार को बन्धन-कारक नही मानता है, ऐसे कर्मों को अकृष्ण-अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है ।

§ १०. गीता में कर्म-अकर्म का स्वरूप

गीता भी इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करती है कि कौन-सा कर्म बन्धन-कारक और कौन-सा कर्म बन्धनकारक नहीं है । गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) कर्म, (२) विकर्म, (३) अकर्म । गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धनकारक हैं और अकर्म बन्धनकारक नहीं हैं ।

१. कर्म—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है ।

२. विकर्म—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, उन्हें विकर्म कहा गया है । साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं, वे भी विकर्म कहलाते हैं । गीता में कहा गया, है, जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर की पीड़ासहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के विचार से किया जाता है वह तामस कहा जाता है ।[1] साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होनेवाले कर्म भी कभी कर्ता की भावनानुसार कर्म-या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं । आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्ध भाव एवं मात्र कर्तव्य-बुद्धि से किये जानेवाले कर्म (जो बाह्यतः विकर्म प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही हैं ।[2]

३. अकर्म—फलासक्तिरहित हो अपना कर्तव्य समझकर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है । गीता के अनुसार, परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होने से अकर्म ही है ।[3]

---

१. गीता, १७।१९.
२. वही, १८।१७.
३. वही, ३।१०.

§ ११. अकर्म की अर्थ-विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन क्रिया-व्यापार को बन्धकत्व की दृष्टि से दो भागों में बाँट देते हैं—१. बन्धक कर्म और २. अबन्धक कर्म। अबन्धक क्रिया-व्यापार को जैन दर्शन में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म, बौद्धदर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म तथा गीता मे अकर्म कहा गया है। सभी समालोच्य आचारदर्शनों की दृष्टि में अकर्म कर्म-अभाव नहीं है। जैन विचारणा के अनुसार कर्म-प्रकृति के उदय को समझकर, बिना राग-द्वेष के जो कर्म होता है वह अकर्म ही है। मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं है। गीता के अनुसार, व्यक्ति की मनोदशा के आधार पर क्रिया न करनेवाले व्यक्तियों का क्रियात्यागरूप अकर्म भी कर्म बन सकता है और क्रिया-शील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है, कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग क्रियारहित पुरुष (जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है) के द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रहने के कारण उससे वह त्यागरूप कर्म होता है। उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह अकर्म को भी कर्म बना देता है।[१] इसी प्रकार कर्तव्य प्राप्त होने पर भय या स्वार्थवश कर्तव्य-कर्म से मुँह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी कर्म नहीं होते, परन्तु इस दशा में भी भय या रागभाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।[२] अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य दृष्टि से जो कर्म किया जाता है, वह कर्म राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावों के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है। इस रहस्य को सम्यक्‌रूपेण जाननेवाला ही गीताकार की दृष्टि में मनुष्यों में बुद्धिमान् योगी है।[३]

सभी विवेच्य आचारदर्शनों में कर्म-अकर्म विचार में वासना, इच्छा या कर्तृत्वभाव ही प्रमुख तत्त्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा या कर्तृत्व-बुद्धि का भाव नहीं है तो वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता। दूसरे शब्दों में बन्धन की दृष्टि से वह कर्म अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म-अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्त्व नहीं है, प्रमुख तत्त्व है कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जागृत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासनाशून्य है, यथार्थ दृष्टि-सम्पन्न है, तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नहीं रखता। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं, जो आत्म-तत्त्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है।[४] आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है, 'रागादि (भावों)

---

१. गीता, ३.६.
२. वही, १८।७.
३. वही, ४।१८.
४. इष्टोपदेश, ४१.

से मुक्त व्यक्ति के द्वारा आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जाये तो वह हिंसा नहीं है[1] अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य मात्र बाह्य-परिणामों पर निर्भर नहीं होते, वरन् उसमें कर्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है, भावों से विरक्त जीव शोकरहित हो जाता है, वह कमल-पत्र की तरह संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता।[2] गीताकार भी इसी विचार-दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है—जिसने कर्म-फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासनाशून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षारहित है और आत्मतत्त्व में स्थिर होने कारण आलम्बन-रहित है, वह क्रियाओं को करते हुए भी कुछ नहीं करता है।[3] गीता का अकर्म जैन-दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जानेवाला समस्त क्रिया-व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है। इसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है, वह अकर्म ही माना गया है। दोनों में जो विचार-साम्य है, वह तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग में मिलने वाला निम्न विचार-साम्य भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है, 'अग्रकर्म और मूल कर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म कर। ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लौकिक प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र योगक्षेम (शारीरिक क्रियाओं) का वाहक होता है।'[4] गीता कहती है—आत्मविजेता, इन्द्रियजित् सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखनेवाला व्यक्ति कर्म का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है, वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बँधा हुआ है, वह कुछ नहीं करता हुआ भी कर्म-बन्धन से बँध जाता है।[5] गीता का उपर्युक्त कथन सूत्रकृतांग के इस कथन से भी काफी निकटता रखता है—मिथ्यादृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है। लेकिन सम्यक्दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु है।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही आचारदर्शनों में अकर्म का अर्थ निष्क्रियता विवक्षित नहीं है, फिर भी तिलक के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से

---

१. पुरुष.थं.सिद्ध्युपाय, ४५.
२. उत्तराध्ययन, ३२ ९९.
३. गीता, ४।२०.
४. आचारांग, १।३।२।४, १।२।१।११०—देखिये आचारांग (संतबाल) परिशिष्ट, पृ० ३६-३७.
५. गीता, ५।७,५।१२.
६. सूत्रकृतांग, १।८।२२-२३.

किये गये प्रवृत्तिमय सांसारिक कर्म से माना जाय तो वह बुद्धिसंगत नहीं होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्कामबुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म का किया जाना सम्भव नहीं। तिलक के अनुसार, निष्काम बुद्धि से युक्त होकर युद्ध तक लड़ा जा सकता है।[1] लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नहीं है। उसकी दृष्टि में अकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य कर्म ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की ईर्यापथिक क्रियाएँ प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएँ ही हैं।[2] गीता में भी अकर्म का अर्थ शारीरिक अनिवार्य कर्म के रूप में गृहीत है (४।२१)। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अकर्म की कोटि में माना है।[3] जैन विचारणा में भी अकर्म में अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष भाव से जनकल्याणार्थ किये जानेवाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जानेवाला तप स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट हैं। सूत्रकृतांग के अनुसार, जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद-रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थकरों की संघ-प्रवर्तन आदि लोककल्याणकारक प्रवृत्तियाँ एवं सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म हैं। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धनकारक नहीं हैं, वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलक ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कर्म और अकर्म का विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा, करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय, तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।[4] जैन और बौद्ध आचारदर्शन में अर्हत् के क्रिया-व्यापार को तथा गीता में स्थितप्रज्ञ के क्रिया-व्यापार को बन्धन और विपाकरहित माना गया है, क्योंकि अर्हत् या स्थितप्रज्ञ मे राग-द्वेष और मोहरूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है। अतः उसका क्रिया-व्यापार बन्धनकारक नही होता और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों आचारदर्शन इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासनासहित सकाम कर्म ही कर्म है, बन्धन-कारक है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म-अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है। कौन-सा कर्म बन्धनकारक है और कौन-सा कर्म बन्धनकारक नहीं है, इसका निर्णय क्रिया के बाह्यस्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल

१. गीतारहस्य, ४।१६. (टिप्पणी)
२. सूत्रकृतांग २।२।१२.
३. गीता (शां०), ४।२१.
४. गीतारहस्य, पृ० ६८४.

में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्मग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं, साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा, इससे वे काम को छोड़ देते हैं। पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धनकारक नहीं होता।[1] □

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २५-२६.

कर्म-बन्ध के कारण, स्वरूप एवं प्रक्रिया

§ १. बन्धन और दुःख

बन्धन सभी भारतीय दर्शनों का प्रमुख प्रत्यय है, यही दुःख है। भारतीय चिन्तन के अनुसार, नैतिक जीवन की समग्र साधना बन्धन या दुःख से मुक्ति के लिए है। इस प्रकार बन्धन नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की प्रमुख मान्यता है। यदि बन्धन की वास्तविकता से इन्कार करते हैं, तो नैतिक साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि भारतीय दर्शन में नैतिकता का प्रत्यय सामाजिक व्यवहार की अपेक्षा बन्धन-मुक्ति, दुःख-मुक्ति अथवा आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित है। जैन दर्शन के अनुसार, जड़ द्रव्यों में एक पुद्गल नामक द्रव्य है। पुद्गल के अनेक प्रकारों में कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु भी एक प्रकार है। कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु एक सूक्ष्म भौतिक तत्त्व (द्रव्य) है। इस सूक्ष्म भौतिक कर्म-द्रव्य (Karmic Matter) से आत्मा का सम्बन्धित होना ही बन्धन है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति कहते हैं, "कषायभाव के कारण जीव का कर्म-पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्ध है।"[१] बन्धन आत्म का अनात्म से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग है। यही दुःख है, क्योंकि समग्र दुःखों का कारण शरीर ही माना गया है! वस्तुतः आत्मा के बन्धन का अर्थ सीमितता या अपूर्णता है। आत्मा की सीमितता, अपूर्णता, बन्धन एवं दुःख, सभी उसके शरीर के साथ आबद्ध होने के कारण है। वास्तव में, शरीर ही बन्धन है। शरीर से यहाँ तात्पर्य स्थूल शरीर नहीं, वरन् लिंग-शरीर, कर्म-शरीर या सूक्ष्म-शरीर है, जो व्यक्ति के कर्म-संस्कारों से बनता है। यह सूक्ष्म लिंग-शरीर या कर्म-शरीर ही प्राणियों के स्थूल शरीर का आधार एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण है। जन्म-मरण की यह परम्परा ही भारतीय दर्शनों में दुःख या बन्धन मानी गयी है। कर्म-ग्रन्थ में कहा गया है कि आत्मा जिस शक्ति (वीर्य) विशेष से कर्म-परमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीव-प्रदेशों से सम्बन्धित करता है तथा कर्म-परमाणु और आत्मा परस्पर एकदूसरे को प्रभावित करते हैं, वह बन्धन है।[२] जैसे दीपक अपनी ऊष्मा से बत्ती के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर (लौ) के रूप में बदल लेता है वैसे ही यह आत्मरूपी दीपक अपने रागभावरूपी ऊष्मा के कारण क्रियाओंरूपी बत्ती के द्वारा कर्म-परमाणुओंरूपी तेल को आकर्षित कर उसे अपने कर्म-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ८।२-३.
२. कर्म प्रकृति, बन्ध प्रकरण, १.

शरीररूपी लौ में बदल देता है।[1] इस प्रकार यह बन्धन की प्रक्रिया चलती रहती है। "आत्मा के रागभाव से क्रियाएँ होती हैं, क्रियाओं से कर्म-परमाणुओं का आस्रव (आकर्षण) होता है और कर्मास्रव से कर्म-बन्ध होता है। यह बन्धन की प्रक्रिया कर्मों के स्वभाव (प्रकृति), मात्रा, काल, मर्यादा और तीव्रता इन चारों बातों का निश्चय कर सम्पन्न होती है।"[2]

१. **प्रकृति बन्ध**—यह कर्म परमाणुओं की प्रकृति (स्वभाव) का निश्चय करता है, अर्थात् कर्म के द्वारा आत्मा की ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति आदि किस शक्ति का आवरण होगा, इस बात का निर्धारण कर्म की प्रकृति करती है।

२. **प्रदेश बन्ध**—कर्म-परमाणु आत्मा के किस विशेष भाग का आवरण करेंगे, इसका निश्चय प्रदेश बन्ध करता है। यह मात्रात्मक होता है। स्थिति और अनुभाग से निरपेक्ष कर्म-दलिकों की संख्या की प्रधानता से कर्म-परमाणुओं का ग्रहण प्रदेश-बन्ध कहलाता है।

३. **स्थिति बन्ध**—कर्म-परमाणु कितने समय तक सत्ता में रहेंगे और कब अपना फल देना प्रारम्भ करेंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थितिबन्ध करता है। यह समय मर्यादा का सूचक है।

४. **अनुभाग बन्ध**—यह कर्मों के बन्ध एवं विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय करता है। यह तीव्रता या गहनता (Intensity) का सूचक है।

§ २. बन्धन का कारण—आस्रव

जैन दृष्टिकोण—जैन दर्शन में बन्धन का कारण आस्रव है। आस्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। क्लेश या मल ही कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के सम्पर्क में आने का कारण है। अतः जैन तत्त्वज्ञान में आस्रव का रूढ़ अर्थ यह भी हुआ कि कर्मवर्गणाओं का आत्मा में आना आस्रव है। अपने मूल अर्थ में आस्रव उन कारकों की व्याख्या करता है, जो कर्मवर्गणाओं को आत्मा की ओर लाते हैं और इस प्रकार आत्मा के बन्धन के कारण होते हैं। आस्रव के दो भेद हैं (१) भावास्रव और (२) द्रव्यास्रव। आत्मा की विकारी मनोदशा भावास्रव है और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है। इस प्रकार भावास्रव कारण है और द्रव्यास्रव कार्य या प्रक्रिया है। द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है, लेकिन यह भावात्मक परिवर्तन भी अकारण नहीं है, वरन् पूर्वबद्ध कर्म के कारण होता है। इस प्रकार पूर्व-बन्धन के कारण भावास्रव और भावास्रव के कारण द्रव्यास्रव और द्रव्यास्रव से कर्म का बन्धन होता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र टीका, भाग १, पृ० ३४३ उद्धृत स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २३२.
२. तत्त्वार्थसूत्र, ८।४

वैसे सामान्य रूप में 'मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियाँ ही आस्रव हैं।'[१] ये प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं, शुभ प्रवृत्तियाँ पुण्य कर्म का आस्रव हैं और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप कर्म का आस्रव हैं।[२] उन सभी मानसिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का, जो आस्रव कही जाती हैं, विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। जैनागमों में इनका वर्गीकरण अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से मिलता है। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर एक वर्गीकरण प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त होगा।

तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव दो प्रकार का माना गया है—(१) ईर्यापथिक और (२) साम्परायिक।[3] जैन दर्शन गीता के समान यह स्वीकार करता है कि जब तक जीवन है, तब तक शरीर से निष्क्रिय नहीं रहा जा सकता। मानसिक वृत्ति के साथ ही साथ सहज शारीरिक एवं वाचिक क्रियाएँ भी चलती रहती हैं और क्रिया के फलस्वरूप कर्मास्रव भी होता रहता है। लेकिन जो व्यक्ति कलुषित मानसिक वृत्तियों (कषायों) के ऊपर उठ जाता है, उसकी और सामान्य व्यक्तियों की क्रियाओं के द्वारा होनेवाले आस्रव में अन्तर तो अवश्य ही मानना होगा। कषायवृत्ति (दूषित मनोवृत्ति) से ऊपर उठे व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा जो आस्रव होता है, उसे जैन परिभाषा में ईर्यापथिक आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार चलते हुए रास्ते की धूल का सूखा कण पहले क्षण में सूखे वस्त्र पर लगता है, लेकिन गति के साथ ही दूसरे क्षण में विलग हो जाता है, उसी प्रकार कषायवृत्ति से रहित क्रियाओं से पहले क्षण में आस्रव होता है और दूसरे क्षण में वह निर्जरित हो जाता है। ऐसी क्रिया आत्मा में कोई विभाव उत्पन्न नहीं करती, किन्तु जो क्रियाएँ कषायसहित होती हैं उनसे साम्परायिक आस्रव होता है। साम्परायिक आस्रव आत्मा के स्वभाव का आवरण कर उसमें विभाव उत्पन्न करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में साम्परायिक आस्रव का आधार ३८ प्रकार की क्रियाएँ हैं—

१–५, हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, मैथुन, संग्रह (परिग्रह) ये पाँच अव्रत

६–९, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय

१०–१४, पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन

१५–३८, चौबीस साम्परायिक क्रियाएँ—

१. कायिकी क्रिया—शारीरिक हलन-चलन आदि क्रियाएँ कायिकी क्रिया कही जाती हैं। यह तीन प्रकार की है—(अ) मिथ्यादृष्टि प्रमत्त जीव की क्रिया, (ब) सम्यक् दृष्टि प्रमत्त जीव की क्रिया, (स) सम्यक्दृष्टि अप्रमत्त साधक की क्रिया। इन्हें क्रमशः अविरत कायिकी, दुष्प्रणिहित कायिकी और उपरत कायिकी क्रिया कहा जाता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६।१-२.

२. वही, ६।३-४.

३. वही, ६।५.

२. अधिकरणिका क्रिया—घातक अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली हिंसादि की क्रिया। इसे प्रयोग-क्रिया भी कहते हैं।

३. प्राद्वेषिकी क्रिया—द्वेष, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि से युक्त होकर की जानेवाली क्रिया।

४. पारितापनिकी—ताड़ना, तर्जना आदि के द्वारा दुःख देना। यह दो प्रकार की है—१. स्वयं को कष्ट देना और २. दूसरे को कष्ट देना। जो विचारक जैन दर्शन को कायाक्लेश का समर्थक मानते हैं उन्हें यहाँ एक वार पुनः विचार करना चाहिए। यदि उसका मन्तव्य कायाक्लेश का होता तो जैन दर्शन स्व-पारितापनिकी क्रिया को पाप के आगमन का कारण नहीं मानता।

५. प्राणातिपातकी क्रिया—हिंसा करना। इसके भी दो भेद हैं—१. स्वप्राणातिपातकी क्रिया अर्थात् राग-द्वेष एवं कषायों के वशीभूत होकर आत्म के स्वस्वभाव का घात करना तथा २. परप्राणातिपातकी क्रिया अर्थात् कषायवश दूसरे प्राणियों की हिंसा करना।

६. आरम्भ क्रिया—जड़ एवं चेतन वस्तुओं का विनाश करना।

७. पारिग्राहिकी क्रिया—जड़ पदार्थों एवं चेतन प्राणियों का संग्रह करना।

८. माया क्रिया—कपट करना।

९. राग क्रिया—आसक्ति करना। यह क्रिया मानसिक प्रकृति की है इसे प्रेम प्रत्ययिकी क्रिया भी कहते हैं।

१०. द्वेष क्रिया—द्वेष-वृत्ति से कार्य करना।

११. अप्रत्याख्यान क्रिया—असंयम या अविरति की दशा में होनेवाला कर्म अप्रत्याख्यान क्रिया है।

१२. मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टित्व से युक्त होना एवं उसके अनुसार क्रिया करना।

१३. दृष्टिजा क्रिया—देखने की क्रिया एवं तज्जनित राग-द्वेषादि भावरूप क्रिया।

१४. स्पर्शन क्रिया—स्पर्श सम्बन्धी क्रिया एवं तज्जनित राग-द्वेषादि भाव। इसे पृष्टिजा क्रिया भी कहते है।

१५. प्रातीत्यकी क्रिया—जड़ पदार्थ एवं चेतन वस्तुओं के बाह्य संयोग या आश्रय से उत्पन्न रागादि भाव एवं तज्जनित क्रिया।

१६. सामन्त क्रिया—स्वयं के जड़ पदार्थ की भौतिक सम्पदा तथा चेतन प्राणिज सम्पदा; जैसे पत्नियाँ, दास, दासी, अथवा पशु पक्षी इत्यादि को देखकर लोगों के द्वारा की हुई प्रशंसा से हर्षित होना। दूसरे शब्दों में लोगों के द्वारा स्वप्रशंसा की अपेक्षा करना। सामन्तवाद का मूल आधार यही है।

१७. स्वहस्तिकी क्रिया—स्वयं के द्वारा दूसरे जीवों को त्रास या कष्ट देने की क्रिया। इसके दो भेद हैं—१. जीव स्वहस्तिकी,—जैसे चाँटा मारना, २. अजीव स्वहस्तिकी, जैसे डण्डे से मारना।

१८. नैसृष्टिकी क्रिया—किसी को फेंककर मारना। इसके दो भेद हैं—१. जीव-निसर्ग क्रिया; जैसे किसी प्राणी को पकड़कर फेंक देने की क्रिया, २. अजीव-निसर्ग क्रिया; जैसे बाण आदि मारना।

१९. आज्ञापनिका क्रिया—दूसरे को आज्ञा देकर कराई जानेवाली क्रिया या पाप कर्म।

२०. वैदारिणी क्रिया— विदारण करने या फाड़ने से उत्पन्न होनेवाली क्रिया।

कुछ विचारकों के अनुसार दो व्यक्तियों या समुदायों में विभेद करा देना या स्वयं के स्वार्थ के लिए दो पक्षों (क्रेता-विक्रेता) को गलत सलाह देकर फूट डालना आदि।

२१. अनाभोग क्रिया—अविवेकपूर्वक जीवन-व्यवहार का सम्पादन करना।

२२. अनाकांक्षा क्रिया—स्वहित एवं परहित का ध्यान नहीं रखकर क्रिया करना।

२३. प्रायोगिकी क्रिया—मन से अशुभ विचार, वाणी से अशुभ सम्भाषण एवं शरीर से अशुभ कर्म करके, मन, वाणी और शरीर शक्ति का अनुचित रूप में उपयोग करना।

२४. सामुदायिक क्रिया—समूह रूप में इकट्ठे होकर अशुभ या अनुचित क्रियाओं का करना; जैसे सामूहिक वेश्या-नृत्य करवाना। लोगों को ठगने के लिए सामूहिक रूप से कोई कम्पनी खोलना अथवा किसी को मारने के लिए सामूहिक रूप में कोई षड्यंत्र करना आदि।

मात्र शारीरिक व्यापाररूप ईर्यापथिक क्रिया, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है, को मिलाकर जैनविचारणा में क्रिया के पच्चीस भेद तथा आस्रव के ३९ भेद होते हैं।[1] कुछ आचार्यों ने मन, वचन और काय योग को मिलाकर आस्रव के ४२ भेद भी माने हैं।[2]

आस्रव रूप क्रियाओं का एक संक्षिप्त वर्गीकरण सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध है। संक्षेप में वे क्रियाएँ निम्न प्रकार हैं।[3]

१. अर्थ क्रिया—अपने किसी प्रयोजन (अर्थ) के लिए क्रिया करना; जैसे अपने लाभ के लिए दूसरे का अहित करना।

२. अनर्थ क्रिया—बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला कर्म; जैसे व्यर्थ में किसी को सताना।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ६।६.

२. नव पदार्थ ज्ञानसार, पृ० १००.

३. सूत्रकृतांग, २।२।१.

३. हिंसा क्रिया—अमुक व्यक्ति ने मुझे अथवा मेरे प्रियजनों को कष्ट दिया है अथवा देगा, यह सोचकर उसकी हिंसा करना।

४. अकस्मात् क्रिया—शीघ्रतावश अथवा अनजाने में होनेवाला पाप-कर्म; जैसे घास काटते-काटते जल्दी में अनाज के पौधे को काट देना।

५. दृष्टि विपर्यास क्रिया—मतिभ्रम से होनेवाला पाप-कर्म; जैसे चौरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड देना, मारना आदि। जैसे दशरथ के द्वारा मृग के भ्रम में किया गया श्रवणकुमार का वध।

६. मृषा क्रिया—झूठ बोलना।

७. अदत्तादान क्रिया—चौर्य कर्म करना।

८. अध्यात्म क्रिया—बाह्य निमित्त के अभाव में होनेवाले मनोविकार अर्थात् बिना समुचित कारण के मन में होनेवाला क्रोध आदि दुर्भाव।

९. मान क्रिया—अपनी प्रशंसा या घमण्ड करना।

१०. मित्र क्रिया—प्रियजनों, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, पत्नी आदि को कठोर दण्ड देना।

११. माया क्रिया—कपट करना, ढोंग करना।

१२. लोभ क्रिया—लोभ करना।

१३. ईर्यापथिकी क्रिया—अप्रमत्त, विवेकी एवं संयमी व्यक्ति की गमनागमन एवं आहार-विहार की क्रिया।

वैसे मूलभूत आस्रव योग (क्रिया) है। लेकिन यह समग्र क्रिया-व्यापार भी स्वतःप्रसूत नहीं है। उसके भी प्रेरक सूत्र हैं जिन्हें आस्रव-द्वार या बन्ध-हेतु कहा गया है। समवायांग, ऋषिभाषित एवं तत्त्वार्थसूत्र में इनकी संख्या ५ मानी गयी है (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग (क्रिया)।[1] समयसार में इनमें से ४ का उल्लेख मिलता है, उसमें प्रमाद का उल्लेख नहीं।[2] उपर्युक्त पांच प्रमुख आस्रव-द्वार या बन्धहेतुओं को पुनः अनेक भेद-प्रभेदों में वर्गीकृत किया गया है। यहाँ केवल नामनिर्देश करना पर्याप्त है। पाँच आस्रव द्वारों या बन्ध-हेतुओं के अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—

१. **मिथ्यात्व**—मिथ्यात्व अयथार्थ दृष्टिकोण है जो पाँच प्रकार का है—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशय और (५) अज्ञान।

२. **अविरति**—यह अमर्यादित एवं असंयमित जीवन प्रणाली है। इसके भी पाँच भेद हैं—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) स्तेयवृत्ति, (४) मैथुन (काम वासना) और (५) परिग्रह (आसक्ति)।

---

१. (अ) समवायांग, ५।४; (ब) इसियभासिय, ९।५; (स) तत्त्वार्थ सूत्र, ८।१.
२. समयसार, १७१.

३. **प्रमाद**—सामान्यतया समय का अनुपयोग या दुरुपयोग प्रमाद है। लक्ष्योन्मुख प्रयास के स्थान पर लक्ष्य-विमुख प्रयास समय का दुरुपयोग है, जबकि प्रयास का अभाव अनुपयोग है। वस्तुतः प्रमाद आत्म-चेतना का अभाव है। प्रमाद पाँच प्रकार का माना गया है—

(क) **विकथा**—जीवन के लक्ष्य (साध्य) और उसके साधना मार्ग पर विचार नहीं करते हुए अनावश्यक चर्चाएँ करना। विकथाएँ चार प्रकार की है—(१) राज्य सम्बन्धी (२) भोजन सम्बन्धी, (३) स्त्रियों के रूप सौन्दर्य सम्बन्धी, और (४) देश सम्बन्धी। विकथा समय का दुरुपयोग है।

(ख) **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी उपस्थिति में आत्मचेतना कुण्ठित होती है। अतः ये भी प्रमाद हैं।

(ग) **राग**—आसक्ति भी आत्म-चेतना को कुण्ठित करती है, इसलिए प्रमाद कही जाती है।

(घ) **विषय-सेवन**—पाँचों इन्द्रियो के विषयों का सेवन।

(ङ) **निद्रा**—अधिक निद्रा लेना। निद्रा समय का अनुपयोग है।

४. **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रमुख मनोदशाएँ, जो अपनी तीव्रता और मन्दता के आधार पर १६ प्रकार की होती हैं, कषाय कही जाती हैं। इन कषायों के जनक हास्यादि ९ प्रकार के मनोभाव उपकषाय है। कषाय और उपकषाय मिलकर पच्चीस भेद होते हैं।

५. **योग**—जैन शब्दावली में योग का अर्थ क्रिया है जो तीन प्रकार की हैं—(१) मानसिक क्रिया (मनोयोग), (२) वाचिक क्रिया (वचनयोग) (३) शारीरिक क्रिया (काय योग)।

यदि हम बन्धन के प्रमुख कारणों को और संक्षेप में जानना चाहें तो जैन परम्परा में बन्धन के मूलभूत तीन कारण राग (आसक्ति), द्वेष और मोह माने गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष इन दोनों को कर्म-बीज कहा गया है[1] और उन दोनों का कारण मोह बताया गया है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उनमें राग ही प्रमुख है। राग के कारण ही द्वेष होता है। जैन कथानकों के अनुसार इन्द्रभूति गौतम का महावीर के प्रति प्रशस्त राग भी उनके कैवल्य की उपलब्धि में बाधक रहा था। इस प्रकार राग एवं मोह (अज्ञान) ही बन्धन के प्रमुख कारण हैं। आचार्य कुन्दकुन्द राग को प्रमुख कारण बताते हुए कहते है, आसक्त आत्मा ही कर्म-बन्ध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है, यही जिन भगवान् का उपदेश है। इसलिए कर्मों में आसक्ति मत रखो।[2] लेकिन यदि राग (आसक्ति) का कारण जानना चाहें तो जैन

---

१. उत्तराध्ययन, ३२.७.
२. समयसार, १५७.

परम्परा के अनुसार मोह ही इसका कारण सिद्ध होता है। यद्यपि मोह और राग-द्वेष सापेक्षरूप में एकदूसरे के कारण बनते हैं। इस प्रकार द्वेष का कारण राग और राग का कारण मोह है। मोह तथा राग (आसक्ति) परस्पर एकदूसरे के कारण हैं। अतः राग, द्वेष और मोह ये तीन ही जैन परम्परा में बन्धन के मूल कारण हैं। इसमें से द्वेष को जो राग (आसक्ति) जनित है, छोड़ देने पर शेष राग (आसक्ति) और मोह (अज्ञान) ये दो कारण बचते हैं, जो अन्योन्याश्रित हैं।

बौद्ध दर्शन में बन्धन (दुःख) का कारण

जैनविचारणा की भाँति ही बौद्धविचारणा में भी बन्धन या दुःख का हेतु आस्रव माना गया है। उसमें भी आस्रव (आसव) शब्द का उपयोग लगभग समान अर्थ में ही हुआ है। यही कारण है कि श्री एस० सी० घोषाल आदि कुछ विचारकों ने यह मान लिया कि बौद्धों ने यह शब्द जैनों से लिया है। मेरी अपनी दृष्टि में यह शब्द तत्कालीन श्रमणपरम्परा का सामान्य शब्द था। बौद्धपरम्परा में आस्रव शब्द की व्याख्या यह है कि जो मदिरा (आसव) के समान ज्ञान का विपर्यय करे वह आस्रव है। दूसरे जिससे संसाररूपी दुःख का प्रसव होता है वह आस्रव है।

जैनदर्शन में आस्रव को संसार (भव) एवं बन्धन का कारण माना गया है। बौद्धदर्शन में आस्रव को भव का हेतु कहा गया है। दोनों दर्शन अर्हतों को क्षीणास्रव कहते हैं। बौद्धविचारणा में आस्रव तीन माने गये हैं—(१) काम, (२) भव और (३) अविद्या। लेकिन अभिधर्म में दृष्टि को भी आस्रव कहा गया है।[1] अविद्या और मिथ्यात्व समानार्थी हैं ही। काम को कषाय के अर्थ में लिया जा सकता है और भव को पुनर्जन्म के अर्थ में। धम्मपद में प्रमाद को आस्रव का कारण कहा गया है। बुद्ध कहते हैं, जो कर्तव्य को छोड़ता है और अकर्तव्य को करता है ऐसे मलयुक्त प्रमादियों के आस्रव बढ़ते हैं।[2] इस प्रकार जैन विचारणा के समान बौद्ध विचारणा में भी प्रमाद आस्रव का कारण है।

बौद्ध और जैन विचारणाओं में इस अर्थ में भी आस्रव के विचार के सम्बन्ध में मतैक्य है कि आस्रव अविद्या (मिथ्यात्व) के कारण होता है। लेकिन यह अविद्या या मिथ्यात्व भी अकारण नहीं, वरन् आस्रवप्रसूत है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा चलती है, वैसे ही अविद्या (मिथ्यात्व) से आस्रव और आस्रव से अविद्या (मिथ्यात्व) की परम्परा परस्पर सापेक्षरूप में चलती रहती है। बुद्ध ने जहाँ अविद्या को आस्रव का कारण माना, वहाँ यह भी बताया कि आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है।[3] एक के अनुसार आस्रव चित्त-मल हैं, दूसरे के अनु-

---

१. संयुत्तनिकाय, ३६।८,४३।७।३, ४५।५।१०. देखिये—बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २४५.

२. धम्मपद, २९२;

३. मज्झिमनिकाय, १।१।९.

सार वे आत्म-मल है, लेकिन इस आत्मवाद सम्बन्धी दार्शनिक भेद के होते हुए भी दोनों का साधनामार्ग आस्रव-क्षय के निमित्त ही है। दोनों की दृष्टि में आस्रवक्षय ही निर्वाण-प्राप्ति का प्रथम सोपान है। बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओ, संस्कार, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, अविद्या आदि सभी अनित्य, संस्कृत और किसी कारण से उत्पन्न होनेवाले हैं। भिक्षुओ इसे भी जान लेने और देख लेने से आस्रवों का क्षय होता है।"[1]

जैसे जैनपरम्परा में राग, द्वेष और मोह बन्धन के मूलभूत कारण माने गये हैं, वैसे ही बौद्ध परम्परा में लोभ (राग), द्वेष और मोह को बन्धन (कर्मो की उत्पत्ति) का कारण माना गया है।[2] जो मूर्ख लोभ, द्वेष और मोह से प्रेरित होकर छोटा या बड़ा जो भी कर्म करता है, उसे उसी को भोगना पड़ता है, न कि दूसरे का किया हुआ। इसलिए बुद्धिमान् भिक्षु को चाहिए कि लोभ, द्वेष और मोह का त्याग कर विद्या का लाभ कर सारी दुर्गतियों से मुक्त हो।[3]

इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में राग, द्वेष और मोह यही तीन बन्धन (संसार-परिभ्रमण) के कारण सिद्ध होते हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं में इस बन्धन की मूलभूत त्रिपुटी का सापेक्ष सम्बन्ध भी स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं, "लोभ और द्वेष का हेतु मोह है—किन्तु पर्याय से राग, द्वेष भी मोह के हेतु हैं।"[4] राग, द्वेष और मोह में सापेक्ष सम्बन्ध है। अज्ञान (मोह) के कारण हम राग-द्वेष करते हैं और राग-द्वेष ही हमें यथार्थ ज्ञान से वंचित रखते हैं। अविद्या (मोह) के कारण तृष्णा (राग) होती है और तृष्णा (राग) के कारण मोह होता है।

गीता की दृष्टि में बन्धन का कारण—जैन परम्परा बन्धन के कारण के रूप में जो पाँच हेतु बताती है, उनको गीता की आचार परम्परा में बन्धन के हेतु के रूप में खोजा जा सकता है। जैन विचारणा के पाँच हेतु हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। गीता में मिथ्या दृष्टिकोण को संसार-भ्रमण का कारण कहा गया है। इतना ही नहीं, मिथ्यात्व के पाँच प्रकार (१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) संशय, (४) विनय (रूढ़िवादिता) और (५) अज्ञान में से विपरीत, संशय और अज्ञान इन तीन का विवेचन गीता में मिलता है। विनय को अगर रूढ़-परम्परा के अर्थ में लें तो गीता वैदिक रूढ़ परम्पराओं की आलोचना के रूप मे विनय को स्वीकार कर लेती है। हाँ, गीता में एकान्त का मिथ्यात्व के रूप में विवेचन उपलब्ध नहीं होता। अविरति का विवेचन गीता अशुचि-व्रत के रूप में करती

---

१. संयुत्तनिकाय, २१।३।९.
२. अंगुत्तरनिकाय, ३।३३ (पृ०१३७).
३. वही, ३ ३३.
४. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० २५.

है।[1] गीता में भी हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह (लोभ-आसक्ति) अविरति ये पाँचों प्रकार बन्धन के कारण माने गये हैं। प्रमाद जो तमोगुण से प्रत्युत्पन्न है, गीता के अनुसार, अधोगति का कारण माना गया है।[2] यद्यपि गीता में 'कषाय' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि जैन विचारणा में कषाय के जो चार भेद—क्रोध, मान, माया और लोभ बताये गये हैं, उनको गीता में भी आसुरी-सम्पदा का लक्षण एवं नरक आदि अधोगति का कारण माना गया है। जैनविचारणा में योग शब्द मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है और इन तीनों को बन्धन का हेतु माना गया है। गीता स्वतन्त्र रूप से शारीरिक कर्म को बन्धन का कारण नहीं मानती, वह मानसिक तथ्य से सम्बन्धित होने पर ही शारीरिक कर्म को बन्धक मानती है, अन्यथा नहीं। फिर भी गीता के १८वें अध्याय में समस्त शुभाशुभ कर्मों का सम्पादन मन, वाणी और शरीर से माना गया है।[3]

गीता के अनुसार आसुरी-सम्पदा बन्धन का हेतु है।[4] उसमें दम्भ, दर्प अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोर वाणी) एवं अज्ञान को आसुरी-सम्पदा कहा गया है।[5] श्रीकृष्ण कहते हैं, 'दम्भ, मान, मद से समन्वित दुष्पूर्ण आसक्ति (कामनाएँ) से युक्त तथा मोह (अज्ञान) से मिथ्यादृष्टित्व को ग्रहण कर प्राणी असदाचरण से युक्त हो संसार-परिभ्रमण करते हैं'।[6] यदि हम गीता के इस श्लोक का विश्लेषण करें तो हमें यहाँ भी बन्धन के काम (आसक्ति) और मोह ये दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं, जिन्हें जैन और बौद्ध परम्पराओं ने स्वीकार किया है, इस श्लोक का पूर्वार्द्ध काम से प्रारम्भ होता है और उत्तरार्द्ध मोह से। यदि ग्रन्थकार की यह योजना युक्तिपूर्ण मानी जाये तो बन्धन के कारण की व्याख्या में जैन, बौद्ध और गीता के दृष्टिकोण एकमत हो जाते हैं। उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में ग्रन्थकार ने दम्भ, मान और मद को दुष्पूर्ण काम के आश्रित कहकर स्पष्ट रूप में काम को इन सबमें प्रमुख माना है और उत्तरार्द्ध में तो मोहात् शब्द का उपयोग ही मोह के महत्त्व को स्पष्ट बताता है। गीताकार यहाँ मोह (अज्ञान) के कारण दो बातों का होना स्वीकार करता है—१. मिथ्यादृष्टि का ग्रहण और २. असदाचरण, जो हमें जैन विचारणा के मोह के दो भेद दर्शन-मोह और चारित्र-मोह की याद दिला देते हैं। यह बात तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक अन्य श्लोक में भी गीताकार ने मोह (अविद्या-अज्ञान) और आसक्ति (तृष्णा, राग या लोभ) को नरक का कारण बताकर उनके बन्धकत्व को स्पष्ट किया है। वहाँ कहा गया

१. (अ) गीता, १६।१०; (ब) गीता (शां०), १६।१०.
२. गीता, १४।१३, १४।१७.
३. वही, १८।१५.
४. वही, १६।५.
५. वही, १६।४.
६. वही १६।१०.

है कि मोह-जाल में आवृत्त और काम-भोगों में आसक्त पुरुष अपवित्र नरकों में गिरते हैं। अर्थात् मोह और आसक्ति पतन के कारण हैं। सातवें अध्याय में गीता जैन विचारणा के समान संसार (अर्थात् बन्धन) के तीन कारणों की व्याख्या करती है। वहाँ गीता कहती है कि इच्छा (राग), द्वेष और तज्जनित मोह से सभी प्राणी अज्ञानी बन संसार के बन्धन को प्राप्त होते हैं।[2] यहाँ गीताकार राग, द्वेष और मोह बन्धन के इन तीन कारणों की व्याख्या ही नहीं करता, वरन् इच्छा-द्वेष से उत्पन्न मोह कहकर जैनदर्शन के समान राग, द्वेष और मोह की परस्पर सापेक्षता को भी अभिव्यक्त कर देता है।

सांख्य योग दर्शन में बन्धन का कारण—योगसूत्र में बन्धन या क्लेश के पाँच कारण माने गये हैं–१. अविद्या, २. अस्मिता (अहंकार), ३. राग (आसक्ति), ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।[3] इनमें भी अविद्या ही प्रमुख कारण है, क्योंकि शेष चारों अविद्या पर आधारित हैं। जैनदर्शन के राग, द्वेष और मोह (अविद्या) इसमें भी स्वीकृत हैं।

न्याय दर्शन में बन्धन का कारण—न्यायदर्शन में जैनदर्शन के समान बन्धन के मूलभूत तीन कारण माने गये हैं—१. राग, २. द्वेष और ३. मोह। राग (आसक्ति) के भीतर काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया तथा दम्भ का समावेश होता है तथा द्वेष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह (हिंसा) तथा अमर्ष का। मोह (अज्ञान) में मिथ्याज्ञान, संशय, मान और प्रमाद होते हैं। राग और द्वेष मोह अथवा अज्ञान से उत्पन्न होते हैं।[4] इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाये तो सभी विचारणाओं में अविद्या (मोह) और राग-द्वेष ही बन्धन, दुःख या क्लेश के कारण हैं। द्वेष भी राग के कारण होता है, अतः मूलतः आसक्ति (राग) और अविद्या (मोह) ही बन्धन के कारण हैं, जिनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष भाव से है।

३. बन्धन के कारणों का बन्ध के चार प्रकारों से सम्बन्ध—बन्ध के चार प्रकारों का बन्ध के कारणों से क्या सम्बन्ध है, इसपर विचार करना भी आवश्यक है। जैनदर्शन में स्वीकृत बन्ध के पाँच कारणों में से कषाय और योग ये दो बन्धन के प्रकार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अतः कषाय और योग के सन्दर्भ में बन्ध के इन चार प्रकारों पर विचार अपेक्षित है। जैन विचारकों के अनुसार कषाय का सम्बन्ध स्थिति और अनुभाग-बन्ध से है। कषायवृत्ति की तीव्रता ही बन्धन की समयावधि (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) का निश्चय करती है। पाप-बन्ध

---

१. गीता, १६।१६.
२. गीता, ७।२७; गीता (शां०), ७।२७.
३. योगसूत्र, २।३.
४. नीतिशास्त्र, पृ० ६३.

में कषाय जितने तीव्र होंगे, बन्धन की समयावधि और तीव्रता भी उतनी ही अधिक होगी। लेकिन पुण्य-बन्ध में कषाय और रागभाव का बन्धन की समयावधि से तो अनुलोम सम्बन्ध होता है, लेकिन बन्धन की तीव्रता से प्रतिलोम सम्बन्ध होता है अर्थात् कषाय जितने अल्प होंगे पुण्यबन्ध उतना ही अधिक होगा। शुभ कर्मों का बन्ध कषायों की तीव्रता से कम और कषायों की मन्दता से अधिक होगा। जहाँ तक अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, अशुभ-बन्ध में दोनों में अनुलोम सम्बन्ध होता है अर्थात् जितनी अधिक समयावधि का बन्ध होगा उतना ही अधिक तीव्र होगा, लेकिन शुभ-बन्ध में दोनों में विलोम-सम्बन्ध होगा अर्थात् जितनी अधिक समयावधि का बन्ध होगा उतना ही कम तीव्र होगा।[१]

बन्धन के दूसरे कारण योग (Activity) का सम्बन्ध प्रदेश-बन्ध और प्रकृति-बन्ध से है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के अभाव में मात्र क्रिया (योग) से भी बन्ध होता है। क्रिया कर्मपरमाणुओं की मात्रा (प्रदेश) और गुण (प्रकृति) का निर्धारण करती है। योग या क्रियाएँ जितनी अधिक होंगी, उतनी ही अधिक मात्रा में कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करेंगे। साथ ही क्रिया का प्रकार ही कर्म-पुद्गलों की प्रकृति का निर्धारण करता है। यद्यपि यह सही है कि क्रिया के स्वरूप का निर्धारण कषायों पर निर्भर होता है और अन्तिम रूप में तो कषाय ही कर्म-पुद्गलों की प्रकृति का निश्चय करते हैं। लेकिन निकटवर्ती कारण की दृष्टि से क्रिया (योग) ही कर्म-पुद्गलों के बन्ध की प्रकृति का निश्चय करती है।[२] इस प्रकार जैनदर्शन में कषाय या राग भाव का सम्बन्ध बन्धन की समयावधि (स्थिति) तथा तीव्रता (अनुभाग) से होता है जबकि क्रिया (योग) का सम्बन्ध बन्धन की मात्रा (प्रदेश) और गुण (प्रकृति) से होता है।

अष्टकर्म और उनके कारण

जिस रूप में कर्मपरमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित कराते हैं—उनके अनुसार उनके विभाग किये जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार कर्म आठ प्रकार के हैं—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र, और ८. अन्तराय।[३]

—

१. ज्ञानावरणीय कर्म

जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ, आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढंक देती हैं और सहज ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन के कारण—जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुंठित करते हैं, वे छः हैं। १. प्रदोष—ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा) करना एवं उसके अवगुण निकालना। २. निह्नव—ज्ञानी का उपकार स्वीकार न करना अथवा किसी विषय को जानते हुए भी उसका अपलाप करना। ३. अन्तराय—ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन पुस्तकादि को नष्ट करना। ४. मात्सर्य—विद्वानों के प्रति द्वेष-बुद्धि रखना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि में अरुचि रखना। ५. असादना—ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथनों को स्वीकार नहीं करना, उनकी समुचित विनय नहीं करना और ६. उपघात—विद्वानों के साथ मिथ्याग्रह युक्त विसंवाद करना अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। उपर्युक्त छः प्रकार का अनैतिक आचरण व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के कुंठित होने का कारण है।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म का विपाक—विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के कारण पाँच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति का आवरण होता है—

१. **मतिज्ञानावरण**—ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता का अभाव, २. **श्रुतिज्ञानावरण**—बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि, ३. **अवधि ज्ञानावरण**—अतीन्द्रिय ज्ञान-क्षमता का अभाव, ४. **मनःपर्याय ज्ञानावरण**—दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति का अभाव, ५. **केवल ज्ञानावरण**—पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव।[2]

कहीं-कहीं विपाक की दृष्टि से इनके १० भेद बताये गये हैं। १. सुनने की शक्ति का अभाव, २. सुनने से प्राप्त होनेवाले ज्ञान की अनुपलब्धि, ३. दृष्टि शक्ति का अभाव, ४. दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, ५. गंधग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ६. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ७. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ८. स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ९. स्पर्श-क्षमता का अभाव और १०. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।[3]

---

१. (अ) कर्मग्रन्थ, १।५४.
 (ब) तत्त्वार्थसूत्र, ६।११.
२. तत्त्वार्थसूत्र, ८।७.
३. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३६.

२. दर्शनावरणीय कर्म

जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की दर्शन-शक्ति में बाधक होती हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाती हैं। ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु तत्त्व का निर्विशेष (निर्विकल्प) बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन-गुण को आवृत्त करता है।

दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण—ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है—(१) सम्यक् दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्वेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (२) मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (३) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (४) सम्यक्दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (५) सम्यक्दृष्टि पर द्वेष करना, (६) सम्यक्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।[1]

दर्शनावरणीय कर्म का विपाक—उपर्युक्त अशुभ आचरण के कारण आत्मा का दर्शन गुण नौ प्रकार से कुंठित हो जाता है—[2] १. **चक्षुदर्शनावरण**—नेत्र-शक्ति का अवरुद्ध हो जाना। २. **अचक्षुदर्शनावरण**—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरुद्ध हो जाना। ३. **अवधिदर्शनावरण**—सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि में बाधा उपस्थित होना। ४. **केवल दर्शनावरण**—परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि का नहीं होना। ५. निद्रा—सामान्य निद्रा। ६ निद्रानिद्रा—गहरी निद्रा। ७. प्रचला—बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा। ८. प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा। ९. स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बल-साध्य कार्य कर डालता है। अन्तिम दो अवस्थाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के द्विविध व्यक्तित्व के समान मानी जा सकती हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार की निद्राओं के कारण व्यक्ति की सहज अनुभूति की क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

३. वेदनीय कर्म

जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. सातावेदनीय और २. असातावेदनीय। सुख रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

---

१. (अ) तत्त्वार्थसूत्र, ६।११.
(ब) कर्मग्रन्थ, १।५४.

२. तत्त्वार्थसूत्र, ८।८.

सातावेदनीय कर्म के कारण—दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुखद-संवेदना रूप सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है—१ पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। २. वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। ३. द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। ४. पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना। ५. किसी को भी किसी प्रकार से दुःख न देना। ६. किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना। ७. किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनाना। ८. किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। ९. किसी भी प्राणी को नहीं मारना और १०. किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं करना।[1] कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, करुणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषायविजय, दान और दृढ़श्रद्धा माना गया है।[2] तत्त्वार्थ-सूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।[3]

सातावेदनीय कर्म का विपाक—उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरूप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है—१. मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते हैं, २. मनोज्ञ, सुन्दर रूप देखने को मिलता है, ३. सुगन्ध की संवेदना होती है, ४. सुस्वादु भोजन-पानादि उपलब्ध होता है, ५. मनोज्ञ, कोमल स्पर्श व आसन शयनादि की उपलब्धि होती है, ६. वांछित सुखों की प्राप्ति होती है, ७. शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, ८. शारीरिक सुख मिलता है।[4]

असातावेदनीय कर्म के कारण—जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दुःखद संवेदना प्राप्त होती है, वे १२ प्रकार के हैं—१. किसी भी प्राणी को दुःख देना, २. चिन्तित बनाना, ३. शोकाकुल बनाना, ४. रुलाना, ५. मारना और ६. प्रताड़ित करना, इन छः क्रियाओं की मंदता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते है।[5] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार १. दुःख, २. शोक, ३. ताप, ४. आक्रन्दन, ५. वध और ६. परिदेवन ये छः असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से १२ प्रकार के हो जाते हैं। स्व एवं पर की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है।[6] कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणों के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना, तथा दान एवं

---

१. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.
२. कर्मग्रन्थ, १।५५.
३. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१३.
४. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.
५. वही, पृ० २३७.
६. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१२.

श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं।[1] इन क्रियाओं के विपाक के रूप में आठ प्रकार की दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं—१. कर्ण-कटु, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते हैं २. अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रूप देखने को प्राप्त होता है, ३. अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, ४. स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, ५. अमनोज्ञ, कठोर एव दुःखद संवेदना उत्पन्न करनेवाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, ६. अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, ७. निन्दा-अपमानजनक वचन सुनने को मिलते हैं और ८. शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति से शरीर को दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती है।[2]

४. मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा आदि नशीली वस्तु के सेवन से विवेक-शक्ति कुंठित हो जाती है, उसी प्रकार जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय (विमोहित करने वाले) कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह।

मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण—सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छः कारणों से होता है—१. क्रोध, २. अहंकार, ३. कपट, ४. लोभ, ५. अशुभाचरण और ६. विवेकाभाव (विमूढ़ता)। प्रथम पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है।[3] कर्मग्रन्थ में दर्शनमोह और चारित्रमोह के बन्धन के कारण अलग-अलग बताये गये हैं। दर्शनमोह के कारण हैं—उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थंकर, मुनि, चैत्य (जिन-प्रतिमाएँ) और धर्म-संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्य आदि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख हैं।[4] तत्त्वार्थ-सूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्म-परिणाम को चारित्रमोह का कारण माना गया है।[5] समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारण बताये गये हैं।[6] १. जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। २. जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक को गीला चमड़ा बांधकर मारता है। ३. जो किसी त्रस प्राणी को मुँह बाँध कर मारता है। ४. जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। ५. जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। ६. जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर

---

१. कर्मग्रन्थ, १।५५.
२. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.
३. वही, पृ० २३७.
४. कर्मग्रन्थ, १।५६-५७.
५. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१४-१५.
६. समवायांग, ३०।१

हँसता है। ७. जो मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है। ८. जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है। ९. जो कलह बढ़ाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा बोलता है। १०. जो पति-पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से झेंपा देता है। ११. जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-आपको कुंवारा कहता है। १२. जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है। १३. जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। १४. जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है वह ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। १५. जो अपने उपकारी की हत्या करता है। १६. जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। १७. जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। १८. जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। १९. जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है। २०. जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। २१. जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। २२. जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। २३. जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आपको बहुश्रुत कहता है। २४. जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। २५. जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता। २६. जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररूपण करते हैं। २७. जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। २८. जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। २९. जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। ३०. जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।

(अ) दर्शन-मोह—जैन-दर्शन में दर्शन शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. प्रत्यक्षीकरण, २. दृष्टिकोण और ३. श्रद्धा। प्रथम अर्थ का सम्बन्ध दर्शनावरणीय कर्म से है, जबकि दूसरे और तीसरे अर्थ का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। दर्शन-मोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव होता है और वह मिथ्या धारणाओं एवं विचारों का शिकार रहता है, उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित होती है। दर्शनमोह तीन प्रकार का है—१. मिथ्यात्व मोह—जिसके कारण प्राणी असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य समझता है। शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानना मिथ्यात्व मोह है। २. सम्यक्-मिथ्यात्व मोह—सत्य एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मकता और ३. सम्यक्त्व मोह—क्षयिक सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक सम्यक्त्व मोह है[1] अर्थात् दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता।

(ब) चारित्र-मोह—चारित्र-मोह के कारण प्राणी का आचरण अशुभ होता है। चारित्र-मोहजनित अशुभाचरण २५ प्रकार का है[2]—१. प्रबलतम क्रोध,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।१०.

२. प्रबलतम मान, ३. प्रबलतम माया (कपट), ४. प्रबलतम लोभ, ५. अति क्रोध, ६. अति मान, ७. अति माया (कपट), ८. अति लोभ, ९. साधारण क्रोध, १०. साधारण मान, ११. साधारण माया (कपट), १२. साधारण लोभ, १३. अल्प क्रोध, १४. अल्प मान, १५. अल्प माया (कपट) और, १६ अल्प लोभ ये सोलह कषाय हैं। उपर्युक्त कषायों को उत्तेजित करने वाली नौ मनोवृत्तियाँ (उपकषाय) हैं—१. हास्य, २. रति (स्नेह, राग), ३. अरति (द्वेष), ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा (घृणा), ७. स्त्रीवेद (पुरुष सहवास की इच्छा), ८. पुरुषवेद (स्त्री सहवास की इच्छा), ९. नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की इच्छा)।

मोहनीय कर्म विवेकाभाव है और उसी विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति की रुचि होती है। अन्य परम्पराओं में जो स्थान अविद्या का है, वही स्थान जैन परम्परा में मोहनीय कर्म का है। जिस प्रकार अन्य परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण अविद्या है, उसी प्रकार जैन परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही नैतिक विकास का आधार है।

५. आयुष्य कर्म

जिस प्रकार बेड़ी कैदी की स्वाधीनता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में कितनी समयावधि तक रहना है। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—१. नरक आयु, २. तिर्यंच आयु (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) ३. मनुष्य आयु और ४. देव आयु।[1]

आयुष्य-कर्म के बन्ध के कारण—सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है।[2] फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण माने गये हैं।[3]

(अ) नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), २. महापरिग्रह (अत्यधिक संचय वृत्ति), ३. मनुष्य, पशु आदि का वध करना, ४. मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) पाशविक जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. कपट करना, २. रहस्यपूर्ण कपट करना, ३. असत्य भाषण, ४. कम-ज्यादा तोल-माप करना। कर्म-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।११. २. वही, ६।१९.

३. स्थानांग, ४।४।३७३.

ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यञ्च आयु के वन्ध का कारण माना गया है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशु-योनि का कारण बताया है।[2]

(स) मानव जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. सरलता, २. विनयशीलता, ३. करुणा और ४. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में १. अल्प आरम्भ, २. अल्प परिग्रह, ३. स्वभाव की सरलता और ४. स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।[3]

(द) दैवीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण—१. सराग (सकाम) संयम का पालन, २. संयम का आंशिक पालन, ३. सकाम तपस्या (बाल तप) ४. स्वाभाविक रूप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कारण माने गये हैं।[4] कर्म-ग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यक्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच, देशविरत श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थिति वश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करनेवाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।[5]

आकस्मिकमरण—प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण आयु कर्म को भोग रहा है और प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर छोड़ने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है। लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारकों ने आयुकर्म का भोग दो प्रकार का माना—१. क्रमिक, २. आकस्मिक। क्रमिक भोग में स्वाभाविक रूप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है, जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते है। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं—१. हर्ष-शोक का अतिरेक, २. विष अथवा शस्त्र का प्रयोग, ३. आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा-अभाव ४. व्याधिजनित तीव्र वेदना, ५. आघात ६. सर्पदंशादि और ७. श्वास-निरोध।[6]

६. नाम कर्म

जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी

१. कर्मग्रन्थ, १।५८.
२. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१७.
३. वही, ६।१८.
४. वही, ६।२०.
५. कर्मग्रन्थ, १।५९.
६. स्थानांग, ७।५६१.

प्रकार नाम-कर्म विभिन्न परमाणुओं से जगत् के प्राणियों के शरीर की रचना करता है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नाम कर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या १०३ मानी गई है लेकिन विस्तारभय से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। उपर्युक्त सारे वर्गीकरण का संक्षिप्त रूप है—१. शुभनामकर्म (अच्छा व्यक्तित्व) और २. अशुभनामकर्म (बुरा व्यक्तित्व)। प्राणी-जगत् में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य दिखाई देता है, उसका प्रमुख कारण नाम-कर्म है।

शुभनाम कर्म के बन्ध के कारण—जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये हैं—१. शरीर की सरलता, २. वाणी की सरलता, ३. मन या विचारों की सरलता, ४. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना या सामञ्जस्य पूर्ण जीवन।[1]

शुभनामकर्म का विपाक—उपर्युक्त चार प्रकार के शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक १४ प्रकार का माना गया है—१. अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी (इष्ट शब्द), २. सुन्दर सुगठित शरीर (इष्ट रूप), ३. शरीर से निःसृत होनेवाले मलों में भी सुगंधि (इष्ट गंध), ४. जैवीय रसों की समुचितता (इष्ट रस), ५. त्वचा का सुकोमल होना (इष्ट स्पर्श), ६. अचपल योग्य गति (इष्ट गति), ७. अंगों का समुचित स्थान पर होना (इष्ट स्थिति), ८. लावण्य, ९. यशःकीर्ति का प्रसार (इष्ट यशः कीर्ति), १०. योग्य शारीरिक शक्ति (इष्ट उत्थान, कर्म, बलवीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम), ११. लोगों को रुचिकर लगे ऐसा स्वर, १२. कान्त स्वर, १३. प्रिय स्वर और १४. मनोज्ञ स्वर।[2]

अशुभ नाम कर्म के कारण—निम्न चार प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति (प्राणी) को अशुभ व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है—१. शरीर की वक्रता, २. वचन की वक्रता, ३. मन की वक्रता, ४. अहंकार एवं मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्य-पूर्ण जीवन।[3]

अशुभनाम कर्म का विपाक—१. अप्रभावक वाणी (अनिष्ट शब्द), २. असुन्दर शरीर (अनिष्ट स्पर्श), ३. शारीरिक मलों का दुर्गन्धयुक्त होना (अनिष्ट गंध), ४. जैवीय रसों की असमुचितता (अनिष्ट रस), ५. अप्रिय स्पर्श, ६. अनिष्ट गति, ७. अंगों का समुचित स्थान पर न होना (अनिष्ट स्थिति), ८. सौन्दर्य का अभाव, ९. अपयश, १०. पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, ११. हीन स्वर, १२. दीन स्वर, १३. अप्रिय स्वर और १४. अकान्त स्वर।[4]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६।२२. २. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३९.
३. तत्त्वार्थसूत्र ६।२१. ४. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३९.

७. गोत्र कर्म

जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, वह गोत्र कर्म है। यह दो प्रकार का माना गया है—१. उच्च गोत्र (प्रतिष्ठित कुल) और २. नीच गोत्र (अप्रतिष्ठित कुल)।[1] किस प्रकार के आचरण के कारण प्राणी का अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और किस प्रकार के आचरण से प्राणी का प्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है, इस पर जैनाचार-दर्शन में विचार किया गया है। अहंकारवृत्ति ही इसका प्रमुख कारण मानी गई है।

उच्च गोत्र एवं नीच गोत्र के कर्म-बन्ध के कारण—निम्न आठ बातों का अहंकार न करने वाला व्यक्ति भविष्य में प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है—१. जाति, २. कुल, ३. बल (शारीरिक शक्ति), ४. रूप (सौन्दर्य), ५. तपस्या (साधना), ६. ज्ञान (श्रुत), ७. लाभ (उपलब्धियाँ) और ८. स्वामित्व (अधिकार)। इसके विपरीत जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का अहंकार करता है वह नीच कुल में जन्म लेता है।[2] कर्म-ग्रन्थ के अनुसार भी अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्च-गोत्र को प्राप्त करता है और इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच गोत्र को प्राप्त करता है।[3] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सद्‌गुणों का आच्छादन और असद्‌गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, सद्‌गुणों का प्रकाशन, असद्‌गुणों का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता ये उच्च गोत्र के बन्ध के हेतु हैं।[3]

गोत्र-कर्म का विपाक—विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है—१. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति), २. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल), ३. सबल शरीर, ४. सौन्दर्ययुक्त शरीर, ५. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, ६. तीव्र बुद्धि एवं विपुलज्ञान राशि पर अधिकार, ७. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ और ८. अधिकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति। लेकिन अहंकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है।[4]

८. अन्तराय कर्म

अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाले कारण को अन्तराय कर्म कहते

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८।१३.
२. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २४०.
३. (अ) कर्मग्रन्थ, १।६०;
   (ब) तत्त्वार्थसूत्र, ६।२४.
४. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २४०.

हैं। यह पाँच प्रकार का है। १. दानान्तराय—दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके, २. लाभान्तराय—कोई प्राप्ति होने वाली हो लेकिन किसी कारण से उसमें बाधा आ जाना, ३. भोगान्तराय—भोग में बाधा उपस्थित होना जैसे व्यक्ति सम्पन्न हो, भोजनगृह में अच्छा सुस्वादु भोजन भी बना हो लेकिन अस्वस्थता के कारण उसे मात्र खिचड़ी ही खानी पड़े, ४. उपभोगान्तराय—उपभोग की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता, ५. वीर्यान्तराय—शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उसका उपयोग नहीं किया जा सकना।

—(तत्त्वार्थसूत्र, ८.१४)

जैन नीति-दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग-शक्ति के उपयोग में बाधक बनता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी दान देने वाले व्यक्ति को दान प्राप्त करने वाली संस्था के बारे में गलत सूचना देकर या अन्य प्रकार से दान देने से रोक देता है अथवा किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है अथवा भोग-सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय-कर्म के बन्ध का कारण है।[1]

५. घाती और अघाती कर्म

कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों को 'घातिक' और नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय इन चार कर्मों को 'अघाती' माना जाता है। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति गुण का आवरण करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभावदशा को विकृत करते हैं, अतः जीवन-मुक्ति में बाधक होते हैं। इन घाती कर्मों में अविद्या रूप मोहनीय कर्म ही आत्म-स्वरूप के आवरण, क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख हैं। वस्तुतः मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-संस्कार है, जिसके कारण कर्म-बन्ध का प्रवाह सतत बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिस प्रकार उगने योग्य बीज हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है उसी प्रकार मोहनीय रूपी कर्म-बीज ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप हवा, पानी आदि के सहयोग से कर्म-परम्परा को सतत बनाये रखता

१. (अ) कर्मग्रन्थ, १।६१; (ब) तत्त्वार्थसूत्र, ६।२६.

है। मोहनीय कर्म ही जन्म, मरण, संसार या बन्धन का मूल है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोह कर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष सारे कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवन-मुक्त बन जाता है।

अघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मों की उत्पादन-क्षमता नहीं होती। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियाँ—आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले घाती कर्मों की ४५ कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की हैं—१. सर्वघाती और २. देशघाती। सर्वघाती कर्म प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशघाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नाम-गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्व-रूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में १२ होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी कषाय देशव्रती चारित्र (गृहस्थ धर्म) का और प्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रती-चारित्र (मुनिधर्म) का पूर्णतया बाधक बनता है। अतः ये २० प्रकार की कर्म-प्रकृतियाँ सर्वघाती कही जाती हैं। शेष ज्ञानावरणीय कर्म की ४, दर्शनावरणीय कर्म की ३, मोहनीय कर्म की १३, अन्तराय कर्म की ५ कुल २५ कर्म-प्रकृतियाँ देशघाती कही जाती हैं। सर्वघात का अर्थमात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है न कि इन गुणों का अनस्तित्व। क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अंतर ही नहीं रहेगा। कर्म तो प्रकटन में बाधक तत्त्व हैं, वे आत्मगुणों को विनष्ट नहीं कर सकते। नन्दिसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्यों

न कर ले, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है, उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत रहता है।[1]

६. प्रतीत्यसमुत्पाद[2] और अष्टकर्म, एक तुलनात्मक विवेचन

जैन दर्शन के अष्टकर्म के वर्गीकरण पर कोई तुलनात्मक विवेचन सम्भव नहीं है, क्योंकि बौद्ध दर्शन और गीता में इस रूप में कोई विवेचना उपलब्ध नहीं है। लेकिन जिस प्रकार जैन-दर्शन का कर्म-वर्गीकरण बन्धन एवं जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या करता है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में प्रतीत्य-समुत्पाद भी जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या करता है। अतः उस पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है ऐसा होने पर ऐसा होता है और ऐसा न होने पर ऐसा नहीं होता है। वह यह मानता है कि प्रत्येक उत्पाद का कोई प्रत्यय, हेतु या कारण अवश्य होता है। यदि प्रत्येक उत्पाद सहेतुक है तो फिर हमारे बन्धन या दुःख का भी कोई हेतु अवश्य होगा। प्रतीत्यसमुत्पाद हमारे बन्धन या दुःख की निम्न १२ अंगों में कार्य-कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

१. अविद्या—प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम कड़ी अविद्या है। बौद्ध-दर्शन में अविद्या का अर्थ है दुःख, दुःख समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधमार्ग रूपी चार आर्यसत्य सम्बन्धी अज्ञान। अविद्या का हेतु आस्रव है, आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है और अविद्या के कारण ही जन्म-मरण परम्परा का संसरण होता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या संसार में आवागमन (बन्धन) का मूलाधार है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो अविद्या जैन-परम्परा के दर्शन-मोह के समान है। दोनों के अनुसार यह एक आध्यात्मिक अन्धता या सम्यक्-दृष्टिकोण का अभाव है। दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि अविद्या या दर्शन-मोह दुःख, बन्धन एवं अनैतिक आचरण का प्रमुख कारण है। दोनों ही परम्पराएँ अविद्या या दर्शन मोह को अनादि मानते हुए भी अहेतुक या अकारण नहीं मानती हैं, जैसा कि सांख्य दर्शन में माना गया है। बौद्ध-परम्परा में अविद्या और तृष्णा में तथा जैन-परम्परा में दर्शन-मोह और चारित्र-मोह में पारस्परिक कार्य-कारण

---

१. नन्दिसूत्र, ४२. २. (अ) दीघनिकाय, २।२;
(ब) संयुत्तनिकाय, १२।१।२;
(स) बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३७३-४१०.

है। मोहनीय कर्म ही जन्म, मरण, संसार या बन्धन का मूल है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोह कर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष सारे कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवन-मुक्त बन जाता है।

अघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मों की उत्पादन-क्षमता नहीं होती। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियाँ—आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले घाती कर्मों की ४५ कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की हैं—१. सर्वघाती और २. देशघाती। सर्वघाती कर्म प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशघाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नाम-गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्व-रूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में १२ होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी कषाय देशव्रती चारित्र (गृहस्थ धर्म) का और प्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रती-चारित्र (मुनिधर्म) का पूर्णतया बाधक बनता है। अतः ये २० प्रकार की कर्म-प्रकृतियाँ सर्वघाती कही जाती हैं। शेष ज्ञानावरणीय कर्म की ४, दर्शनावरणीय कर्म की ३, मोहनीय कर्म की १३, अन्तराय कर्म की ५ कुल २५ कर्म-प्रकृतियाँ देशघाती कही जाती हैं। सर्वघात का अर्थमात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है न कि इन गुणों का अनस्तित्व। क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अंतर ही नहीं रहेगा। कर्म तो प्रकटन में बाधक तत्त्व हैं, वे आत्मगुणों को विनष्ट नहीं कर सकते। नन्दिसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्यों

न कर ले, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है, उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत रहता है।[1]

६. प्रतीत्यसमुत्पाद[2] और अष्टकर्म, एक तुलनात्मक विवेचन

जैन दर्शन के अष्टकर्म के वर्गीकरण पर कोई तुलनात्मक विवेचन सम्भव नहीं है, क्योंकि बौद्ध दर्शन और गीता में इस रूप में कोई विवेचना उपलब्ध नहीं है। लेकिन जिस प्रकार जैन-दर्शन का कर्म-वर्गीकरण बन्धन एवं जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या करता है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में प्रतीत्य-समुत्पाद भी जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या करता है। अतः उस पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है ऐसा होने पर ऐसा होता है और ऐसा न होने पर ऐसा नहीं होता है। वह यह मानता है कि प्रत्येक उत्पाद का कोई प्रत्यय, हेतु या कारण अवश्य होता है। यदि प्रत्येक उत्पाद सहेतुक है तो फिर हमारे बन्धन या दुःख का भी कोई हेतु अवश्य होगा। प्रतीत्यसमुत्पाद हमारे बन्धन या दुःख की निम्न १२ अंगों में कार्य-कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

१. अविद्या—प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम कड़ी अविद्या है। बौद्ध-दर्शन में अविद्या का अर्थ है दुःख, दुःख समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधमार्ग रूपी चार आर्यसत्य सम्बन्धी अज्ञान। अविद्या का हेतु आस्रव है, आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है और अविद्या के कारण ही जन्म-मरण परम्परा का संसरण होता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या संसार में आवागमन (बन्धन) का मूलाधार है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो अविद्या जैन-परम्परा के दर्शन-मोह के समान है। दोनों के अनुसार यह एक आध्यात्मिक अन्धता या सम्यक्-दृष्टिकोण का अभाव है। दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि अविद्या या दर्शन-मोह दुःख, बन्धन एवं अनैतिक आचरण का प्रमुख कारण है। दोनों ही परम्पराएँ अविद्या या दर्शन मोह को अनादि मानते हुए भी अहेतुक या अकारण नहीं मानती हैं, जैसा कि सांख्य दर्शन में माना गया है। बौद्ध-परम्परा में अविद्या और तृष्णा में तथा जैन-परम्परा में दर्शन-मोह और चारित्र-मोह में पारस्परिक कार्य-कारण

---

१. नन्दिसूत्र, ४२.
२. (अ) दीघनिकाय, २।२;
(ब) संयुत्तनिकाय, १२।१।२;
(स) बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३७३-४१०.

सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार अविद्या या दर्शन-मोह अहेतुक नहीं है, उनका हेतु तृष्णा या चारित्र मोह है।

२. संस्कार—प्रतीत्यसमुत्पाद की दूसरी कड़ी संस्कार है। कुशल-अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ, जो जन्म-मरण परम्परा का कारण बनती हैं, संस्कार कही जाती हैं। संस्कार एक प्रकार से मानसिक वासना है जो अविद्याजन्य है। संस्कार तीन प्रकार के हैं—१. पुण्याभिसंस्कार, २. अपुण्याभिसंस्कार, ३. अन्योन्याभिसंस्कार। ये संस्कार जैन परम्परा के चारित्र-मोह से तुलनीय हैं। पुण्याभिसंस्कार पुण्य-बन्ध से, अपुण्याभिसंस्कार पाप-बन्ध से और अन्योन्याभिसंस्कार पुण्यानुबन्धी पाप या पापानुबन्धी पुण्य से तुलनीय है।

३. विज्ञान—प्रतीत्यसमुत्पाद की तीसरी कड़ी विज्ञान (चेतना) है, जो संस्कारजन्य है। विज्ञान का तात्पर्य उन चित्त-धाराओं से है जो पूर्वजन्म में किये हुए कुशल-अकुशल कर्मों के विपाकस्वरूप इस जन्म में प्रकट होती हैं और जिनके कारण मनुष्य को ऐन्द्रिक संवेदन एवं अनुभूति होती है अर्थात् विज्ञान इन्द्रियों की ज्ञान-सम्बन्धी चेतन-क्षमता का आधार एवं निर्धारक है। इस प्रकार विज्ञान जैन-परम्परा के ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म से तुलनीय है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन ये छह विज्ञान के प्रकार हैं।

४. नाम-रूप—नाम-रूप का प्रतीत्यसमुत्पाद मे चौथा स्थान है। नाम-रूप का हेतु विज्ञान (चेतना) है। बौद्ध-दर्शन में समस्त जगत्—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पंचस्कन्धों से निर्मित है। प्रथम रूपस्कन्ध को रूप और शेष चारों स्कन्धों को नाम कहा जाता है। रूप भौतिक और नाम चेतन है। मिलिन्दप्रश्न में नागसेन लिखते हैं कि जितनी स्थूल चीजें हैं वे सभी रूप हैं और जितनी सूक्ष्म मानसिक अवस्थाएँ हैं वे नाम हैं। पृथ्वी, अग्नि, पानी और वायु ये चारों महाभूत और इनसे प्रत्युत्पन्न सभी वस्तुएँ एवं शरीरादि रूप कही जाती हैं, जबकि वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चारों नाम कहे जाते हैं। नाम-जैन-विचारणा के आयुष्य कर्म, गतिनामकर्म और शरीर-नामकर्म की संयुक्त अवस्था से तुलनीय हैं।

५. षडायतन—षडायतन से तात्पर्य चक्षु, घ्राण, श्रवण, रसना और स्पर्श इन पाँच इन्द्रियों एवं छठे मन से है। षडायतन का कारण नाम-रूप है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर व्यक्ति के सन्दर्भ में नाम-रूप और षडायतन जैन-दर्शन के नाम-कर्म के समान है। क्योंकि जैन-दर्शन में नामकर्म और बौद्ध-दर्शन में नाम-रूप तथा षडायतन वैयक्तिकता के निर्धारक हैं और [illegible] में दोनों ही समान हैं।

६. स्पर्श--षडायतन अर्थात् इन्द्रियों एवं मन के होने से उनका अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है। यह इन्द्रियों और विषय का संयोग ही स्पर्श है। यह षडायतनों पर निर्भर होने से छह प्रकार का है--आँख-स्पर्श (देखना), कान का स्पर्श (सुनना), नाक का स्पर्श (गन्ध-ग्रहण), जीभ का स्पर्श (स्वाद), शरीर का स्पर्श (त्वक् संवेदना) और मन का स्पर्श (विचार-संकल्प)। ये सभी कुशल या अकुशल कर्म के विपाक माने गये हैं।

७. वेदना--वेदना स्पर्श-जनित है। इन्द्रिय और विषयों के संयोग का मन पर पड़ने वाला प्रथम प्रभाव वेदना है। इन्द्रियों के होने पर उनका अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है और वह सम्पर्क हमारे मन पर प्रभाव डालता है। यह प्रभाव चार प्रकार का होता है--१. सुख रूप, २. दुःख रूप, ३. सुख-दुःख रूप और ४. असुख-अदुःख रूप। पाँच इन्द्रियों एवं मन की अपेक्षा से वेदना के छह विभाग भी किये गये हैं। स्पर्श और वेदना जैन-विचारणा के वेदनीय कर्म के समान हैं। सुखरूप वेदना सातावेदनीय और दुःख-रूप वेदना असातावेदनीय से तुलनीय हैं। असुख-अदुःख रूप-वेदना की तुलना जैन दर्शन की वेदनीय कर्म की प्रदेशोदय नामक अवस्था से की जा सकती है।

८. तृष्णा--इन्द्रियों एवं मन के विषयों के सम्पर्क की चाह तृष्णा है। यह छह प्रकार की होती है--शब्द-तृष्णा, रूप-तृष्णा, गंध-तृष्णा, रस (आस्वाद)-तृष्णा, स्पर्श-तृष्णा और मन के विषयों की तृष्णा। इनमें से प्रत्येक कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा के रूप में तीन प्रकार की होती है। विषयों के भोग की वासना को लेकर जो तृष्णा उदित होती है, वह काम-तृष्णा है। विषय (पदार्थ) और विषयी (भोक्ता) का संयोग सदैव बना रहे, उनका उच्छेद न हो, यह लालसा भवतृष्णा है। यह शाश्वतता या बने रहने की तृष्णा है। अरुचिकर या दुःखद संवेदन रूप विषयों के सम्पर्क को लेकर जो विनाश-सम्बन्धी इच्छा उदित होती है, वह विभव तृष्णा है। यह द्वेष स्थानीय एवं अनस्तित्व की तृष्णा है।

तृष्णा लोभ का ही रूप है। इस प्रकार यह जैन-दर्शन के चारित्रमोह कर्म के अन्तर्गत आ जाती है। एक दूसरे प्रकार से तृष्णा अपूर्ण या अतृप्त इच्छा है और इस प्रकार यह अन्तराय कर्म से भी तुलनीय है, यद्यपि दोनों में अधिक निकटता नहीं है।

९. उपादान--उपादान का अर्थ आसक्ति है जो तृष्णा के कारण होती है। उपादान चार प्रकार के हैं--१. कामूपादान-कामभोग में गृद्ध बने रहना, २. दिट्ठूपादान-मिथ्या धारणाओं से चिपके रहना, ४. सीलव्वतूपादान-व्यर्थ के कर्मकाण्डों में लगे रहना और ४. अत्तवादूपादान-आत्मवाद में आसक्ति रखना।

उपादान का सम्बन्ध भी मोहनीय कर्म से ही माना जा सकता है। दिट्ठूपादान, सीलब्बूत्तूपादान और अत्तवादूपादान का सम्बन्ध दर्शन-मोह से और कामूपादान का सम्बन्ध चारित्रमोह से है। वैसे ये उपादान वैयक्तिक पुरुषार्थ को सन्मार्ग की दिशा में लगाने में बाधक हैं और इस रूप में वीर्यान्तिराय के समान हैं।

१०. भव—भव का अर्थ है पुनर्जन्म कराने वाला कर्म। भव दो प्रकार का है—कम्मभव और उप्पत्तिभव। जो कर्म पुनर्जन्म कराने वाला है वह कर्मभव (कम्मभव) हैऔर जिस उपादान को लेकर व्यक्ति लोक में जन्म ग्रहण करता है वह उत्पत्तिभव (उप्पत्तिभव) है। भव जैन-दर्शन के आयुष्य कर्म से तुलनीय है। कम्मभव भावी जीवन सम्बन्धी आयुष्य-कर्म का बन्ध है जो तृष्णा या मोह के कारण होता है। उप्पत्तिभव वर्तमान जीवन सम्बन्धी आयुष्य-कर्म है।

११. जाति—देवों का देवत्व, मनुष्यों का मनुष्यत्व, चतुष्पदों का चतुष्पदत्व जाति कहा जाता है। जाति भावी जन्म की योनि का निश्चय है जिससे पुनः जन्म ग्रहण करना होता है। जाति की तुलना जैन-दर्शन के जाति नाम कर्म से और कुछ रूप में गोत्र-कर्म से की जा सकती है।

१२. जरा-मरण—जन्म धारण कर वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होना जरा-मरण है। जरा-मरण की तुलना भी आयुष्य कर्म के भोग से की जा सकती है। आयुष्य-कर्म का क्षय होना ही जरामरण है।
इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के प्रतीत्य-समुत्पाद और जैन-दर्शन के कर्मों के वर्गीकरण में कुछ निकटता देखी जा सकती है। यद्यपि दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि बौद्ध-दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की कड़ियों में पारस्परिक कार्य-कारण श्रृंखला की जो मनोवैज्ञानिक योजना दिखाई गई है, वैसी जैन कर्म-सिद्धान्त में नहीं है। उसमें केवल मोहकर्म का अन्य कर्मों से कुछ सम्बन्ध खोजा जा सकता है। फिर भी पंचास्तिकायसार में हमें एक ऐसी मनोवैज्ञानिक योजना परिलक्षित होती है, जिसकी तुलना प्रतीत्यसमुत्पाद से की जा सकती है।[1]

§ ७. महायान दृष्टिकोण और अष्टकर्म

महायान बौद्ध-दर्शन में कर्मो का ज्ञेयावरण और क्लेशावरण के रूप में वर्गीकरण किया गया है।[2] वह जैन दर्शन के कर्म वर्गीकरण के काफी निकट है। क्लेशावरण बन्धन एवं दुःख का कारण है जबकि ज्ञेयावरण ज्ञान के प्रकाश या सर्वज्ञता में

१. पंचास्तिकायसार, १२८ व १२९.
२. अभिधर्म कोष-कर्मनिर्देश नामक चौथा निर्देश, उद्धृत जैन स्टडीज, पृ० २५१-२५२.

बाधक है। क्लेशावरण जैन-दर्शन के चारित्र-मोह कर्म और ज्ञेयावरण केवलज्ञानावरण कर्म से तुलनीय है। वैसे जैन विचारणा द्वारा स्वीकृत कर्म के दो कार्य आवरण और विक्षेप की तुलना भी क्रमशः ज्ञेयावरण और क्लेशावरण से की जा सकती है।

§ ८. कम्मभव और उप्पत्तिभव तथा घाती और अघाती कर्म

अष्ट कर्मों में आत्मा के स्वभाव के आवरण की दृष्टि से चार कर्म घाती और चार कर्म अघाती माने गये हैं, लेकिन यदि नवीन बन्ध या पुनर्जन्म उत्पादक कर्म की दृष्टि से विचार करें तो एक मात्र मोह-कर्म ही नवीन बंध या पुनर्जन्म का उत्पादक है, शेष सभी कर्मों का बन्ध मोह-कर्म की उपस्थिति में ही होता है। मोह-कर्म की अनुपस्थिति में कोई ऐसा बन्ध नहीं होता जिसके कारण आत्मा को जन्ममरण के चक्र में फँसना पड़े।

बौद्ध-दर्शन में आत्मा के स्वभाव को आवरित करनेवाले घाती और अघाती कर्मों के सम्बन्ध में तो कोई विचार उपलब्ध नहीं है लेकिन उसमें पुनर्जन्म उत्पादक कर्म की दृष्टि से कम्मभव और उप्पत्तिभव का विचार अवश्य उपलब्ध है। प्रतीत्य-समुत्पाद की १२ कड़ियों में अविद्या, संस्कार, तृष्णा, उपादान और भव पाँच कम्मभव हैं। इनके कारण जन्म-मरण की परम्परा का प्रवाह चलता रहता है। शेष विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण उत्पत्तिभव हैं, जो अपनी उदय या विपाक अवस्था में नये बन्धन का सृजन नहीं करते हैं। कम्मभव में अविद्या और संस्कार भूतकालीन जीवन के अर्जित कर्म-संस्कार या चेतना-संस्कार हैं। ये संकलित होकर विपाक के रूप में हमारे वर्तमान जीवन के उत्पत्तिभव (विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना) का निश्चय करते हैं। तत्पश्चात् वर्तमान जीवन के तृष्णा, उपादान और भव स्वयं कम्मभव के रूप में भावी जीवन के उत्पत्तिभव के रूप में जाति और जरामरण का निश्चय करते हैं। वर्तमान जीवन के तृष्णा, उपादान और भव भावी-जीवन के अविद्या और संस्कार बन जाते हैं और वर्तमान में भावी जीवन के लिए निश्चित हुए जाति और जरामरण भावी जीवन में विज्ञान, नामरूप और षडायतन के कारण होते हैं। इस प्रकार कम्मभव रचनात्मक कर्म शक्ति के रूप में जैन-दर्शन के मोह-कर्म के समान जन्म-मरण की शृंखला का सर्जक है और उत्पत्ति-भव शेष निष्क्रिय कर्म अवस्थाओं के समान है, जो मोहकर्म या कम्मभव के अभाव में जन्म-मरण की परम्परा के प्रवाह को बनाये रखने में असमर्थ है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन का कर्मभव जैन-दर्शन के मोह-कर्म से और उत्पत्ति-भव जैन विचारणा की शेष कर्म अवस्थाओं के समान है। इसे निम्न तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—

	बौद्ध-परम्परा	जैन-परम्परा
कम्मभव	१. अविद्या २. संस्कार	मोहकर्म की सत्ता की अवस्था।
	३. तृष्णा ४. उपादान ५. भव	मोहकर्म की विपाक और नवीन बन्ध की अवस्था।
उत्पत्तिभव	६. विज्ञान ७. नाम-रूप ८. षडायतन ९. स्पर्श १०. वेदना	ज्ञानावरण, दर्शनावरण आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की विपाक अवस्था।
	११. जाति १२. जरा-मरण	भावी जीवन के लिए आयुष्य, नाम, गोत्र आदि कर्मों की बन्ध की अवस्था।

§ ९. चेतना के विभिन्न पक्ष और बन्धन

कर्म-अकर्म विचार में हमने देखा कि बन्धन मुख्य रूप से कर्ता की चैत्तसिक अवस्था पर आधारित है, अतः यह विचार भी आवश्यक है कि चेतना और बन्धन के बीच क्या सम्बन्ध है ?

आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना

आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के तीन पक्ष मानता है, जिन्हें क्रमशः (१) ज्ञानात्मक पक्ष, (२) भावात्मक पक्ष और (३) संकल्पात्मक पक्ष कहा जाता है। इन्हीं तीन पक्षों के आधार पर चेतना के तीन कार्य माने जाते हैं—१. जानना २. अनुभव करना ३. इच्छा करना। भारतीय चिन्तन में भी चेतना के इन तीन पक्षों अथवा कार्यों के सम्बन्ध में प्राचीन समय से ही पर्याप्त विचार किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चेतना के निम्न तीन पक्षों का निर्देश किया है—१. ज्ञान-चेतना २. कर्मचेतना और ३. कर्मफलचेतना।[1] तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान-चेतना को चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष से, कर्मफलचेतना को चेतना के भावात्मक (अनुभूत्यात्मक) पक्ष से और कर्म-चेतना को चेतना के संकल्पात्मक पक्ष के समकक्ष माना जा सकता है।

१. पंचास्तिकायसार, ३८.

जैन दृष्टिकोण

उपर्युक्त तीनों पक्षों पर बन्धन के कारण की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष या ज्ञान-चेतना बन्धन का कारण नहीं हो सकती है। ज्ञान चेतना तो मुक्त जीवात्माओं में भी होती है, अतः उसे बन्धन का कारण मानना असंगत है। कर्मफलचेतना या चेतना के अनुभूत्यात्मक पक्ष को भी अपने आप में बन्धन का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्हत् या केवली में भी वेदनीय कर्म का फल भोगने के कारण कर्मफल चेतना तो होती है, लेकिन वह उसके बन्धन का कारण नहीं बनती। उत्तराध्ययनसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि इन्द्रियों के माध्यम से होनेवाली सुखद और दुःखद अनुभूतियाँ वीतराग के मन में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं कर सकतीं।[1] इस प्रकार न चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष बन्धन का कारण है, न अनुभूत्यात्मक पक्ष बन्धन का कारण है। चेतना के तीसरे संकल्पात्मक पक्ष को, जिसे कर्मचेतना कहा जाता है, बन्धन का कारण माना जा सकता है। क्योंकि शेष दो ज्ञानचेतना और अनुभवचेतना तो चेतना की निष्क्रिय अवस्थाएँ हैं, यद्यपि उनमें प्रतिबिम्बित होने वाली बाह्य घटनाएँ सक्रिय तत्त्व हैं। लेकिन कर्म-चेतना स्वतः ही सक्रिय अवस्था है। संकल्प, विकल्प एवं राग-द्वेषादि भावों का जन्म चेतना की इसी अवस्था में होता है अतः जैन-दर्शन में चेतना का यही संकल्पात्मक पक्ष बन्धन का कारण माना गया है, यद्यपि इसके पीछे उपादान कारक के रूप में भौतिक तथ्यों से प्रभावित होनेवाली कर्मफल चेतना का हाथ अवश्य होता है। कुछ विचारकों ने कर्म-चेतना को भी निष्क्रिय क्रियाचेतना के रूप में समझने की कोशिश की है, लेकिन ऐसी अवस्था में चेतना का कोई भी सक्रिय पक्ष नहीं रहने से बन्धन की व्याख्या संभव नहीं होगी। यदि कर्म-चेतना केवल क्रिया के होने का ज्ञान है तो फिर वह ज्ञान चेतना या कर्मफलचेतना से भिन्न नहीं होगी। अतः कर्मचेतना की निष्क्रिय रूप में व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। केवल उसी का सम्बन्ध बन्धन से हो सकता है, क्योंकि वही राग-द्वेष या कषायादि भाव-कर्मों की कर्ता है।

बौद्ध दृष्टिकोण से तुलना

बौद्ध विचार में भी चेतना को ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक तथा संकल्पात्मक पक्षों से युक्त माना गया है, जिन्हें क्रमशः सन्ना, वेदना और चेतना (संकल्प)-कहा गया है।[2] जैन परम्परा जिसे ज्ञान-चेतना कहती है उसे बौद्ध-परम्परा में सन्ना या क्रिया-चेतना कहा जाता है, जैन परम्परा की कर्मफल चेतना बौद्ध परम्परा की विपाक-चेतना या वेदना के समकक्ष है। बौद्ध-विचारणा की चेतना (संकल्प) की

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।१००. २. उद्धृत स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २४७.

तुलना जैन विचारणा की कर्म-चेतना से की जा सकती है। तीनों पक्षों से समन्वित चेतना नैतिक आधार पर शोभना, अकुशल और अव्यक्त ऐसे तीन भागों में विभाजित की गयी है। पुनः शोभना या कुशल चेतना को तीन उपभागों में विभाजित किया गया है—१. शुभ संकल्प चेतना, २. शुभ विपाक चेतना और ३. शुभ क्रिया चेतना। इसी प्रकार अशुभ या अकुशल चेतना भी १. अकुशल संकल्प चेतना, २. अकुशल विपाक चेतना, और ३. अकुशल क्रिया चेतना (ज्ञान चेतना)—ऐसे तीन उपभागों में विभाजित की गई है। लेकिन इसमें से शुभ और अशुभ विपाक चेतनाएँ तथा शुभ और अशुभ क्रिया चेतनाएँ बन्धन की कोटि में नहीं आती हैं। यद्यपि बाह्य जगत् में ये क्रियाशीलता की अवस्थाएँ हैं, लेकिन इनके पीछे कर्ता का कोई आशय नहीं होने से ये बन्धनकारक नहीं हैं। मात्र शुभ और अशुभ संकल्प-चेतना ही बन्धन दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं तथा संसार के आवागमन का कारण हैं। □

13

बन्धन से मुक्ति की ओर
(संवर और निर्जरा)

यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा के पूर्वकर्म-संस्कारों के कारण बन्धन की प्रक्रिया अविराम गति से चल रही है। पूर्वकर्म-संस्कार विपाक के अवसर पर आत्मा को प्रभावित करते हैं और उसके परिणामस्वरूप मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-व्यापार होता है और उस क्रिया व्यापार के कारण नवीन कर्मास्रव एवं कर्म-बन्ध होता है। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बन्धन से मुक्त कैसे हुआ जाय? जैन दर्शन बन्धन से बचने के लिए जो उपाय बताता है, उसे संवर कहते हैं।

§ १. संवर का अर्थ

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार आस्रव-निरोध संवर है।[1] संवर मोक्ष का मूल-कारण[2] तथा नैतिक साधना का प्रथम सोपान है। संवर शब्द सम् उपसर्गपूर्वक वृ धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ है रोकना या निरोध करना। इस प्रकार संवर शब्द का अर्थ है आत्मा में प्रवेश करनेवाले कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को रोक देना। सामान्यतः शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं का यथाशक्य निरोध (रोकना) करना संवर है, क्योंकि क्रियाएँ ही आस्रव का कारण हैं। जैन-परम्परा में संवर को कर्म-परमाणुओं के आस्रव को रोकने के अर्थ में और बौद्ध-परम्परा में क्रिया के निरोध के अर्थ में स्वीकार किया गया है। क्योंकि बौद्ध-परम्परा में कर्मवर्गणा (परमाणुओं) का भौतिक स्वरूप मान्य नहीं है, अतः वे संवर को जैन-परम्परा के अर्थ में नहीं लेते हैं। उसमें संवर का अर्थ मन, वाणी एवं शरीर के क्रिया-व्यापार या ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का संयम ही अभिप्रेत है। वैसे जैन-परम्परा में भी संवर को कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के निरोध के रूप में माना गया है, क्योंकि संवर के पाँच अंगों में अयोग (अक्रिया) भी एक है। यदि इस परम्परागत अर्थ को मान्य करते हुए भी थोड़ा ऊपर उठकर देखें तो संवर का वास्तविक अर्थ संयम ही होता है। जैन-परम्परा में संवर के रूप में जिस जीवन-प्रणाली का विधान है वह संयमी जीवन की प्रतीक है। स्थानांगसूत्र में संवर के पाँच भेदों का विधान पाँचों इन्द्रियों के संयम के रूप में

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।१.

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८०.

किया गया है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र में तो संवर के स्थान पर संयम को ही आस्रव-निरोध का कारण कहा गया है।[2] वस्तुतः संवर का अर्थ है अनैतिक या पापकारी प्रवृत्तियों से अपने को बचाना और संवर शब्द इस अर्थ में संयम का पर्याय ही सिद्ध होता है। बौद्ध-परम्परा में संवर शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में ही हुआ है। धम्मपद आदि में प्रयुक्त संवर शब्द का अर्थ संयम ही किया गया है।[3] संवर शब्द का यह अर्थ करने में जहाँ एक ओर हम तुलनात्मक विवेचन को सुलभ बना सकेंगे वहीं दूसरी ओर जैन-परम्परा के मूल आशय से भी दूर नहीं जायेंगे। लेकिन संवर का यह निषेधक अर्थ ही सब-कुछ नहीं है, वरन् उसका एक विधायक पक्ष भी है। शुभ अध्यवसाय भी संवर के अर्थ में स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि अशुभ की निवृत्ति के लिये शुभ का अंगीकार प्राथमिक स्थिति में आवश्यक है। वृत्ति-शून्यता के अभ्यासी के लिए भी प्रथम शुभ-वृत्तियों को अंगीकार करना होता है। क्योंकि चित्त का शुभवृत्ति से परिपूर्ण होने पर अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं रहता। अशुभ को हटाने के लिए शुभ आवश्यक है। संवर का अर्थ शुभ-वृत्तियों का अभ्यास भी है। यद्यपि वहाँ शुभ का मात्र वही अर्थ नहीं है जिसे हम पुण्यास्रव या पुण्यबंध के रूप में जानते हैं।

§ २. जैन परम्परा में संवर का वर्गीकरण

(अ) जैन-दर्शन में संवर के दो भेद हैं—१. द्रव्य संवर और २. भाव संवर। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है कि कर्मास्रव को रोकने में सक्षम आत्मा की चैत्तसिक स्थिति भावसंवर है, और द्रव्यास्रव को रोकने वाला उस चैत्तसिक स्थिति का परिणाम द्रव्य संवर है।[4]

(ब) संवर के पाँच अंग या द्वार बताये गये हैं—१. सम्यक्त्व—यथार्थ दृष्टि-कोण, २. विरति—मर्यादित या संयमित जीवन, ३. अप्रमत्तता—आत्म-चेतनता, ४. अकषायवृत्ति—क्रोधादि मनोवेगों का अभाव और ५. अयोग—अक्रिया।[5]

(स) स्थानांगसूत्र में संवर के आठ भेद निरूपित हैं—१. श्रोत्र इन्द्रिय का संयम, २. चक्षु इन्द्रिय का संयम, ३. घ्राण इन्द्रिय का संयम, ४. रसना इन्द्रिय का संयम, ५. स्पर्श इन्द्रिय का संयम, ६. मन का संयम, ७. वचन का संयम, ८. शरीर का संयम।[6]

(द) प्रकारान्तर से जैनागमों में संवर के सत्तावन भेद भी प्रतिपादित हैं, जिनमें पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, दसविध यति-धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ (भाव-

---

१. स्थानांग, ५।२।४२७.
२. उत्तराध्ययन, २९।२६.
३. धम्मपद, ३६०-३६३.
४. द्रव्यसंग्रह, ३४.
५. समवायांग, ५।५.
६. स्थानांग, ८।३।५९८.

नाएँ) बाईस परीषह और पाँच सामायिक चारित्र सम्मिलित हैं। ये सभी कर्मास्रव का निरोध कर आत्मा को बन्धन से बचाते हैं, अतः संवर कहे जाते हैं। इन सबका विशेष सम्बन्ध संन्यास या श्रमण जीवन से है।

उपर्युक्त आधारों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर का तात्पर्य ऐसी मर्यादित जीवन-प्रणाली है जिसमें विवेकपूर्ण आचरण (क्रियाओं का सम्पादन) मन, वाणी और शरीर की अयोग्य प्रवृत्तियों का संयमन, सद्गुणों का ग्रहण, कष्ट-सहिष्णुता और समत्व की साधना समाविष्ट है। जैन-दर्शन में संवर के साधक से यही अपेक्षा की गई है कि उसका प्रत्येक आचरण संयत एवं विवेकपूर्ण हो, चेतना सदैव जागृत रहे ताकि इन्द्रियों के विषय उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ पैदा न कर सकें। जब इन्द्रियाँ और मन अपने विषयों के सम्पर्क में आते हैं तो आत्मा में विकार या वासना उत्पन्न होने की सम्भावना खड़ी होती है, अतः साधना-मार्ग के पथिक को सदैव जागृत रहते हुए विषय-सेवन रूप छिद्रों से आने वाले कर्मास्रव या विकार से अपनी रक्षा करनी है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को समेटकर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे।[१] मन, वाणी, शरीर और इन्द्रिय-व्यापारों का संयमन ही नैतिक जीवन की साधना का लक्ष्य है। सच्चे साधक की व्याख्या करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो सूत्र तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी, तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है (अर्थात् सन्मार्ग में विवेकपूर्वक प्रयत्नशील रहता है), अध्यात्मरस में ही जो मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधि में लगाता है, वही सच्चा साधक है।[२]

§ ३. बौद्ध-दर्शन में संवर

त्रिपिटक साहित्य में संवर शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है, लेकिन कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृतियों के संयमन के अर्थ में ही। भगवान् बुद्ध संयुत्तनिकाय के संवरसुत्त में असंवर और संवर कैसे होता है इसके विषय में कहते हैं—

भिक्षुओ ! संवर और असंवर का उपदेश करूँगा। उसे सुनो।
भिक्षुओ कैसे असंवर होता है ?

भिक्षुओ ! चक्षुविज्ञेय रूप, श्रोत्रविज्ञेय शब्द, घ्राणविज्ञेय गन्ध, जिह्वाविज्ञेय रस, कायाविज्ञेय स्पर्श, मनोविज्ञेय धर्म, अभीष्ट, सुन्दर, लुभावने, प्यारे, कामयुक्त, राग में डालनेवाले होते हैं। यदि कोई भिक्षु उसका अभिनन्दन करे, उसकी बड़ाई

१ सूत्रकृतांग, १।८।१६.
२. दशवैकालिक, १०।१५.

करे और उसमें सलंग्न हो जाय, तो उसे समझना चाहिए कि मैं कुशल धर्मों से गिर रहा हूँ। इसे परिहान कहा है।

भिक्षुओ ! ऐसे ही असंवर होता है।

भिक्षुओ ! संवर कैसे होता है ?

भिक्षुओ ! चक्षुविज्ञेय रूप, श्रोत्रविज्ञेय शब्द, घ्राणविज्ञेय गन्ध, जिह्वाविज्ञेय रस, कायाविज्ञेय स्पर्श, मनोविज्ञेय धर्म, अभीष्ट, सुन्दर, लुभावने, प्यारे, कामयुक्त, राग में डालने वाले होते हैं। यदि कोई भिक्षु उनका अभिनन्दन न करे, उनकी बड़ाई न करे, और उनमें संलग्न न हो, तो उसे समझना चाहिए कि मैं कुशल धर्मों से नहीं गिर रहा हूँ। इसे अपरिहान कहा है।
भिक्षुओ ! ऐसे ही संवर होता है।[1]

धम्मपद में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओ ! आँख का संवर उत्तम है, श्रोत्र का संवर उत्तम है, भिक्षुओ ! नासिका का संवर उत्तम है और उत्तम है जिह्वा का संवर। मन, वाणी और शरीर सभी का संवर उत्तम है। जो भिक्षु पूर्णतया संवृत है, वह समग्र दुःखों से शीघ्र ही छूट जाता है।"[2]

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में संवर का तत्त्व स्वीकृत रहा है। इन्द्रियनिग्रह और मन, वाणी एवं शरीर के संयम को दोनों परम्पराओं ने स्वीकार किया है। दोनों ही संवर (संयम) को नवीन कर्म-संतति से बचने का उपाय तथा निर्वाण-मार्ग का सहायक तत्त्व स्वीकार करते हैं। दशवैकालिकसूत्र के समान बुद्ध भी सच्चे साधक को सुसमाहित (सुसंवृत) रूप में देखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि "भिक्षु वस्तुतः वह कहलाता है, जो हाथ और पैर का संयम करता है, जो वाणी का संयम करता है, जो उत्तम रूप से संयत है, जो अध्यात्म में स्थित है, जो समाधि-युक्त है और सन्तुष्ट है।"[3]

§ ४. गीता का दृष्टिकोण

गीता में संवर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों के संयम का विचार तो उसमें है ही। सूत्रकृतांग के समान कछुए का उदाहरण देते हुए गीताकार भी कहता है कि "कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही साधक जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।"[4]

---

१. संयुत्तनिकाय, ३४।२।५।५. २. धम्मपद, ३६०-३६१.
३. वही, ३६२. तुलनीय दशवैकालिक १०।१५ ४. गीता, २।५८.

"हे अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी यह प्रमथन-स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं। जैसे जल में वायु नाव को हर लेता है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि का हरण कर लेती है। हे महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सब प्रकार के इन्द्रियों-विषयों से वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे।"[1] इस प्रकार गीता का जोर भी संयम पर है।

§ ५. संयम और नैतिकता

वस्तुतः जैन और गीता के आचार-दर्शन संयम के प्रत्यय को मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। जैन-विचारणा में धर्म (नैतिकता) के तीन प्रमुख अंग माने गये हैं—१. अहिंसा २. संयम और ३. तप। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है, "अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल है"।[2] संयम का अर्थ है मर्यादित या नियमपूर्वक जीवन और नैतिकता का भी यही अर्थ है। नैतिकता को मर्यादित या नियमपूर्वक जीवन से भिन्न नहीं देखा जा सकता।

किन्हीं विचारकों की यह मान्यता हो सकती है कि व्यक्ति को जीवन-यात्रा के संचालन में किन्हीं मर्यादाओं एवं आचार नियमों में बाँधना उचित नहीं है। तर्क दिया जा सकता है कि मर्यादाओं के द्वारा व्यक्ति के जीवन की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और मर्यादाएँ या नियम कभी भी परमसाध्य नहीं हो सकते। वे तो स्वयं एक प्रकार का बंधन हैं। लक्ष्य की प्राप्ति में मर्यादाएँ व्यर्थ हैं।

लेकिन यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृति (सम्पूर्ण जगत) नियमों से आबद्ध है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा का कथन है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियमबद्ध हो रहा है। इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता, जो कुछ होता है प्राकृतिक नियम के अधीन होता है।[3] प्रकृति स्वयं उन तथ्यों को व्यक्त कर रही है जो इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि विकारमुक्त अवस्था की प्राप्ति एवं आत्म-विकास के लिए भी मर्यादाएँ आवश्यक हैं। चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सृष्टि की अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं। सम्पूर्ण जगत् नियमों से शासित है। जिस समय जगत् में नियमों का अस्तित्व समाप्त होगा, उसी समय जगत् का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा।

---

१. गीता, २।६०, २।६७, २।६८, २।६१. २. दशवैकालिक, १।१.
३. पश्चिमी दर्शन (दीवानचन्द), पृ० १२१.

नदी का अस्तित्व तटों की मर्यादा में है। यदि नदी अपनी सीमारेखा (तट) को स्वीकार नहीं करती है तो क्या उसका अस्तित्व रह सकता है? क्या वह अपने लक्ष्य जलनिधि (समुद्र) को प्राप्त कर सकती है, किंवा जन-कल्याण में उपयोगी हो सकती है? प्रकृति यदि अपने नियमों में आबद्ध न रहे, वह मर्यादा तोड़ दे तो वर्तमान विश्व क्या अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है? प्रकृति का अस्तित्व स्वयं उनके नियमों पर है। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं, "प्रकृति का मार्ग लोगों के मन में छाई भावना और संस्कार द्वारा नहीं, वरन् शाश्वत नियमों द्वारा निर्धारित होता है, विश्व पूर्ण रूप से नियमबद्ध है।"[1]

पशु जगत् के अपने नियम और अपनी मर्यादाएँ हैं, जिनके आधार पर वे अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न करते हैं। उनका आहार-विहार सभी नियमबद्ध है। वे निश्चित समय पर भोजन की खोज को जाते एवं वापस लौट आते हैं। उनके जीवन-कार्यों में एक व्यवस्था होती है। लेकिन उपर्युक्त सभी तथ्यों के प्रति आपत्ति यह की जा सकती है कि ये सभी नियम स्वभाविक या प्राकृतिक हैं जब कि मानवीय नैतिक नियम कृत्रिम या निर्मित होते हैं। अतएव उनकी महत्ता प्राकृतिक नियमों की महत्ता के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती।

अब हम यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि मनुष्य के लिए निर्मित नैतिक नियम क्यों आवश्यक हैं। इस हेतु हमें सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक होगा कि सामान्य प्राणी वर्ग और मनुष्य में क्या अन्तर है, जिसके आधार पर उसे नैतिक मर्यादाएँ (निर्मित नियम) पालन करने को कहा जा सकता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि प्राणी-वर्ग में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसमें चिन्तन की सर्वाधिक क्षमता है। उसका यह ज्ञानगुण या विवेकक्षमता ही उसे पशुओं से पृथक् कर उच्च स्थान प्रदान करती है।

नैतिक नियम मानव-जाति के सहस्रों वर्षों के चिन्तन और मनन का परिणाम हैं। उनके मानने से इनकार करने का अर्थ होगा कि मनुष्य-जाति को उसकी ज्ञान-क्षमता से विलग कर पशु-जाति की श्रेणी में मिला देना।

स्वाभाविक नियम तो पशुओं में भी होते हैं। उनका आचार-व्यवहार उन्हीं नियमों से शासित होता है। वे आहार की मात्रा, रक्षा के उपाय आदि का निश्चय इन स्वाभाविक नियमों के सहारे करते हैं। लेकिन मनुष्य की सार्थकता इसी में है कि वह स्वचिन्तन के आधार पर अपने हिताहित का ध्यान रख कर ऐसी मर्यादाएँ निश्चित करे जिससे वह परमसाध्य को प्राप्त कर सके। कांट ने कहा है कि "अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं। मनुष्य नियम के प्रत्यय के आधीन

---

१. हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, पृ० ६८.

भी चल सकता है अन्य शब्दों में उसके लिए आदर्श बनाना और उन पर चलना संभव है।[1]

मनुष्य अपने को पूर्ण रूप से प्रकृति पर आश्रित नहीं छोड़ता। वह प्रकृति के आदेशों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करता। मानव-जाति का इतिहास यह बताता है कि मनुष्य ने प्रकृति से शासित होने की अपेक्षा उस पर शासन करने का प्रयत्न किया है। फिर आचार के क्षेत्र में यह दावा कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य को अपनी वृत्तियों की पूर्ति हेतु मानवों द्वारा निर्मित नैतिक मर्यादाओं द्वारा शासित नहीं करके स्वतंत्र परिचारण करने देना चाहिए। मनुष्य ने जीवन में कृत्रिमता को अधिक स्थान दे दिया है और इस हेतु उनके लिए अधिक निर्मित नैतिक मर्यादाओं की आवश्यकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यह मनुष्य के सम्बन्ध में दूसरा मुद्रालेख है। यह व्यक्त करता है कि मनुष्य के नियम ऐसे होने चाहिए जो उसे सामाजिक प्राणी बनाये रखें। यदि वह इतना नहीं करे, तो भी सामाजिक व्यवस्था में व्याघात उत्पन्न करे, ऐसी आचार विधि के निर्माण का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है।

उपर्युक्त निश्चय के आधार पर मनुष्य की आचार-विधि या नैतिक मर्यादाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—समाजगत और आत्मगत। पाश्चात्य विचारक भी ऐसे ही दो विभाग करते हैं—१. उपयोगितावादी सिद्धान्त, २. अन्तरात्मक सिद्धान्त।

लेकिन निरपेक्ष रूप से न तो समाजगत विधि ही अपनायी जा सकती है और न आत्मगत। दोनों का महत्व सापेक्ष है। यह तथ्य अलग है कि किसी परिस्थिति और साधन की योग्यता के आधार पर किसी एक को प्रमुखता दी जा सकती है और दूसरी गौण हो सकती है, लेकिन एक की पूरी तरह अवहेलना करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

नैतिक मर्यादाओं का पालन हम अपने स्वयं के लिए करें या समाज के लिए, लेकिन उनकी अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता। दृष्टिकोण चाहे जो हो, दोनों में संयम का स्थान समान है। असंयम से जीवन बिगड़ता है, प्राणी दुःखी होता है।

१. खान-पान में संयम—खान-पान में संयम अत्यन्त आवश्यक है। न पचने वाले या स्वास्थ्य के विरोधी तत्वों के शरीर में प्रवेश के कारण रोग पैदा होंगे। रुग्ण व्यक्ति यदि भोजन का संयम न रखे, तो रोग बढ़ेगा और वह मृत्यु के मुख में पहुँच जायेगा।

---

१. पश्चिमी दर्शन (दीवानचंद्र), पृ० १६४.

२. भोगों में संयम—विषय-सुख बड़े मधुर लगते हैं, पर यदि व्यक्ति इसमें संयम न रखे तो वीर्य-नाश से शक्ति ह्रास यावत् रोगोत्पत्ति से मरण तक हो सकता है। सुन्दर स्त्रियों को देखकर मन ललचा जाता है, किन्तु परायी स्त्रियों से विषय-सुख की इच्छा करने पर समाज-व्यवस्था में विश्रृंखलता पैदा हो जायेगी। मन की चंचलता व दौड़ में यदि मर्यादाएँ न रहें तो अभोग्य बहन, बेटी, कुटुम्बिनी तक से विषय-सुख की लालसा जागृत हो जायेगी और इस प्रकार सामाजिक मर्यादाएँ समाप्त हो जायंगी।

३. वाणी का संयम—बोलने में संयम न रहे तो कलह एवं मनोमालिन्य बढ़ता है। चाहे जैसा, जो भी मन में आया, उसे बोलने का परिणाम बड़ा दारुण होता है। वचन के असंयम से छोटी-सी बात भी विवाद का कारण बन जाती है। अधिक झगड़े इसी कारण पैदा होते हैं। महाभारत का महायुद्ध वाणी के असंयम का ही परिणाम था।

हम देखते हैं कि वाद्य-यंत्रों के वादन में, मोटर आदि वाहनों के चलाने में हाथ का संयम जरूरी होता है। थोड़ा-सा हाथ का संयम खत्म कि मोटर कहीं से कहीं जा गिरेगी। ताल व वाद्य पर नियंत्रण न रहा तो संगीत का सारा मजा किरकिरा हो जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संयम के बिना जीवन चल नहीं सकता, सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। संयम रूपी ब्रेक हर काम में आवश्यक है। जीवन की यात्रा में संयम रूपी ब्रेक न हो तो महान् अनर्थ हो सकता है। सामाजिक जीवन में भी संयम के अभाव में सुखद जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन में संयम के बिना प्रवेश करना संभव नहीं। व्यक्ति जब तक अपने हितों को मर्यादित नहीं कर सकता और अपनी आकांक्षाओं को समाज-हित में बलिदान नहीं कर सकता, वह सामाजिक जीवन के अयोग्य है।

समाज में शांति और समृद्धि इसी आधार पर संभव है, जब उसके सदस्य अपने हितों का नियंत्रण करना जानें। सामाजिक जीवन में हमें हितों की प्राप्ति के लिए एक सीमारेखा निश्चित करनी होती है। हम अपने हित-साधन की सीमा वहीं तक बढ़ा सकते हैं, जहाँ तक दूसरे के हित की सीमा प्रारम्भ होती है। समाज में व्यक्ति अपना स्वार्थ-साधन वहीं तक कर सकता है जहाँ तक उससे दूसरे का अहित न हो। इस सामाजिक जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं—१. अनुशासन, २. सहयोग की भावना और ३. अपने हितों का बलिदान करने की क्षमता। क्या इन सबका आधार संयम नहीं है? सच्चाई यह है कि संयम के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना ही संभव नहीं।

संयम और मानव-जीवन ऐसे घुले-मिले तथ्य हैं कि उनसे परे सुव्यवस्थित जीवन की कल्पना संभव नहीं दिखाई देती। संयम का दूसरा रूप ही मर्यादित जीवन-व्यवस्था है। मनुष्य के लिए अमर्यादित जीवन-व्यवस्था संभव नहीं है। हम सभी ओर से मर्यादाओं से आवद्ध हैं। प्राकृतिक मर्यादाएँ, व्यक्तिगत मर्यादाएँ, पारिवारिक मर्यादाएँ, सामाजिक-मर्यादाएँ, राष्ट्रीय मर्यादाएँ, और अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाएँ सभी से मनुष्य बंधा हुआ है और यदि वह इन सबको स्वीकार न करे तो वह उस दशा में पशु से भी हीन होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मर्यादाओं का पालन अनिवार्य है। सभी मर्यादाओं का पालन करना संयम नहीं है लेकिन यदि मर्यादाओं का पालन स्वेच्छा से किया जाता है तो उनके पीछे अव्यक्त रूप में संयम का भाव निहित रहता है। सामान्यतया वे ही मर्यादाएँ संयम कहलाती हैं जिनके द्वारा व्यक्ति आत्मविकास और परमसाध्य की प्राप्ति करता है।

§ ६. निर्जरा

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बद्ध होना बंध है और आत्मा से कर्म-वर्गणाओं का अलग होना निर्जरा है। नवीन आने वाले कर्म-पुद्गलों को रोकना (संवर) है, परन्तु मात्र संवर से निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि किसी बड़े तालाब के जल स्रोतों (पानी को आगमन के द्वारों) को बन्द कर दिया जाए और उसके अन्दर रहे हुए जल को उलीचा जाय और ताप से सुखाया जाए तो वह विस्तीर्ण तालाब भी सूख जाएगा।" इस रूपक में आत्मा ही सरोवर है, कर्म पानी है, कर्म ही पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को निरुद्ध कर देना संवर है और पानी का उलीचना और सुखाना निर्जरा है। यह रूपक यह बताता है कि "संवर से नये कम रूपी जल का आगमन (आस्रव) तो रुक जाता है, लेकिन पूर्व में बंधे हुए, सत्तारूप कर्मों का जल जो आत्मारूपी तालाब में शेष है, उसे सुखाना ही निर्जरा है।[1]

द्रव्य और भाव रूप निर्जरा—निर्जरा शब्द का अर्थ है जर्जरित कर देना, झाड़ देना अर्थात् आत्म-तत्त्व से कर्म-पुद्गलों का अलग हो जाना अथवा अलग कर देना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। आत्मा का वह चैतसिक अवस्था रूप-हेतु जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल अपना फल देकर अलग हो जाते हैं, भाव-निर्जरा कहा जाता है। भाव-निर्जरा आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है जिसके कारण कर्म-परमाणु आत्मा से अलग हो जाते हैं। यही कर्म-परमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य निर्जरा है। भाव-निर्जरा कारण रूप है और द्रव्य-निर्जरा कार्य रूप है।

---

१. उत्तराध्ययन ३०।५-९

सकाम और अकाम निर्जरा—निर्जरा के ये दो प्रकार भी माने गये हैं—

१. कर्म जितनी काल-मर्यादा के साथ बँधा है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक (फल) देकर आत्मा से अलग हो जाता है, यह यथाकाल-निर्जरा है। इसे सविपाक अकाम और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। इसे सविपाक निर्जरा इसलिए कहते हैं कि इसमें कर्म अपना विपाक देकर अलग होता है अर्थात् इसमें फलोदय (विपाकोदय) होता है। इसे अकाम निर्जरा इस आधार पर कहा गया है कि इसमें कर्म के अलग करने में व्यक्ति के संकल्प का तत्त्व नहीं होता। उपक्रम शब्द प्रयास के अर्थ में आता है, इसमें वैयक्तिक प्रयास का अभाव होता है, अतः इसे अनौपक्रमिक भी कहा जाता है। यह एक प्रकार से विपाक-अवधि के आने पर अपना फल देकर स्वाभाविक रूप में कर्म का अलग हो जाना है।

२. तपस्या के माध्यम से कर्मों को उनके फल देने के समय के पूर्व अर्थात् उनकी कालस्थिति परिपक्व होने के पहिले ही प्रदेशोदय के द्वारा भोगकर बलात् अलग कर दिया जाता है, तो यह निर्जरा सकाम निर्जरा कही जाती है, क्योंकि निर्जरित होने में समय का तत्त्व अपनी स्थिति को पूरी नहीं करता है। इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता है, मात्र प्रदेशोदय होता है। विपाकोदय और प्रदेशोदय के अन्तर को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जब क्लोरोफार्म सुंघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड़ की जाती है तो उसमें उसे असातावेदनीय (दुःखानुभूति) नामक कर्म का प्रदेशोदय होता है, लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दुःखद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं, लेकिन दुःखद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार प्रदेशोदय कर्म के फल का तथ्य तो उपस्थित हो जाता है, लेकिन उसकी फलानुभूति नहीं होती है। अतः वह अविपाका निर्जरा कही जाती है। इसे सकाम निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें कर्म-परमाणुओं को आत्मा से अलग करने का संकल्प होता है। यह औपक्रमिक निर्जरा भी कही जाती है, क्योंकि इसमें उपक्रम या प्रयास होता है। प्रयासपूर्वक, तैयारीसहित, कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है। यह कर्मों को निर्जरित (क्षय) करने का कृत्रिम प्रकार है। अनौपक्रमिक या सविपाक-निर्जरा अनिच्छापूर्वक, अशान्त एवं व्याकुल चित्त-वृत्ति से, पूर्वसंचित कर्म के प्रतिफलों का सहन करना है जब कि अविपाक निर्जरा इच्छापूर्वक समभावों से जीवन की आई हुई परिस्थितियों का मुकाबला करना है।

§ ७. जैन साधना में औपक्रमिक निर्जरा का स्थान

जैन-साधना की दृष्टि से निर्जरा का पहला प्रकार जिसे सविपाक या अनौप-

क्रमिक निर्जरा कहते हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यह पहला प्रकार साधना के क्षेत्र में ही नहीं आता है क्योंकि कर्मों के बन्ध और निर्जरा का यह क्रम तो सतत चला आ रहा है। हम प्रतिक्षण पुराने कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं, लेकिन जब तक नवीन कर्मों का सृजन समाप्त नहीं होता, ऐसी निर्जरा से सापेक्ष रूप में कोई लाभ नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान तो करता रहे लेकिन नवीन ऋण भी लेता रहे तो वह ऋण-मुक्त नहीं हो पाता।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा सविपाक निर्जरा तो अनादिकाल से करता आ रहा है, लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं "यह चेतन आत्मा कर्म के विपाककाल में सुखद और दुःखद फलों की अनुभूति करते हुए पुनः दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्मों का बन्धन कर लेता है। क्योंकि कर्म जब अपना विपाक फल देते हैं, तो किसी निमित्त से देते हैं और अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करके नवीन बन्ध कर लेता है"।[1]

अतः साधना-मार्ग के पथिक के लिए पहले यह निर्देश दिया गया कि वह प्रथम ज्ञान-युक्त हो कर्मास्रव का निरोध कर अपने आपको संवृत करे। संवर के अभाव में निर्जरा का कोई मूल्य नहीं।

औपक्रमिक निर्जरा के भेद— जैन विचारकों ने इस औपक्रमिक अथवा अविपाक निर्जरा के १२ भेद किये हैं, जो कि तप के ही १२ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—१. अनशन या उपवास, २. ऊनोदरी–आहार मात्रा में कमी, ३. भिक्षाचर्या अथवा वृत्ति संक्षेप–मर्यादित भोजन, ४. रसपरित्याग–स्वादजय, ५. कायाक्लेश—आसनादि, ६. प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय-निरोध, कषाय-निरोध, क्रिया-निरोध तथा एकांत निवास, ७. प्रायश्चित्त—स्वेच्छा से दण्ड ग्रहण कर पाप-शुद्धि या दुष्कर्मों के प्रति पश्चात्ताप, ८. विनय—विनम्रवृत्ति तथा वरिष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना, ९. वैयावृत्य—सेवा, १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान और १२. व्युत्सर्ग—ममत्व-त्याग।[2]

इस प्रकार साधक संवर के द्वारा नवीन-कर्मों के आस्रव (आगमन) का निरोध कर तथा निर्जरा द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

८. बौद्ध आचार-दर्शन और निर्जरा :

बुद्ध ने स्वतन्त्र रूप से निर्जरा के सम्बन्ध में कुछ कहा हो, ऐसा कहीं दिखाई नहीं दिया, फिर भी अंगुत्तरनिकाय में एक प्रसंग है, जहाँ बुद्ध के अन्तेवासी शिष्य

---

१. समयसार, ३८९.
२. उत्तराध्ययन, ३०।७-८, ३०।

आनन्द निर्ग्रन्थ-परम्परा में प्रचलित निर्जरा का परिष्कार करते हुए बौद्ध-दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। अभय लिच्छवि आनन्द के सम्मुख निर्जरा सम्बन्धी जैन-दृष्टिकोण इन शब्दों में प्रस्तुत करते है—"भन्ते ! ज्ञातृ-पुत्र निर्ग्रन्थ का कहना है कि तपस्या से पुराने कर्मों का नाश हो जाता है और कर्मों को न करने से नये कर्मों का घात हो जाता है। इस प्रकार कर्म का क्षय होने से दुःख का क्षय, दुःख का क्षय होने से वेदना का क्षय और वेदना का क्षय होने से सारे दुःख की निर्जरा होगी। इस प्रकार सांदृष्टिक निर्जरा—विशुद्धि से (दुःख का) अतिक्रमण होता है। भन्ते, भगवान् (बुद्ध) इस विषय में क्या कहते हैं" ?

इस प्रकार अभय द्वारा निर्जरा के तप-प्रधान निग्रंथ-दृष्टिकोण को उपस्थित कर निर्जरा के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध की विचारसरणि को जानने की जिज्ञासा प्रकट की गई है। आयुष्मान् आनन्द इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "अभय ! उन भगवान् (बुद्ध) के द्वारा तीन निर्जरा—विशुद्धियाँ सम्यक् प्रकार से कही गयी हैं। हे अभय ! भिक्षु सदाचारी होता है, प्रातिमोक्ष—शिक्षा-पदों के नियम का सम्यक् पालन करनेवाला होता है। इस प्रकार वह शील-सम्पन्न भिक्षु काम-भोगों से दूर हो चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहार करता है। इस प्रकार वह शील-सम्पन्न भिक्षु आस्रवों का क्षय कर अनास्रव—चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी शरीर में जान कर, साक्षात् कर, प्राप्त कर, विहार करता है। वह नया कर्म नहीं करता और पुराने कर्मों (के फल) को भोगकर समाप्त कर देता है। यह सांदृष्टिक निर्जरा है, अकालिका (देश और काल की सीमाओं से परे)।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-परम्परा निर्जरा के प्रत्यय को स्वीकार तो कर लेती है, लेकिन उसके तपस्यात्मक पहलू के स्थान पर उसके चारित्रविशुद्ध्यात्मक तथा चित्त-विशुद्ध्यात्मक पहलू पर ही अधिक जोर देती है।

§ ९. गीता का दृष्टकोण :

यद्यपि गीता में निर्जरा शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि जैन-दर्शन निर्जरा शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करता है, वह अर्थ गीता में उपलब्ध है। जैन-दर्शन में निर्जरा शब्द का अर्थ पुरातन कर्मों को क्षय करने की प्रक्रिया है। गीता में भी पुराने कर्मों को क्षय करने की प्रक्रिया का निर्देश है। गीता में ज्ञान को पूर्व-संचित कर्मों को नष्ट करने का साधन कहा गया है। गीताकार कहता है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सभी पुरातन कर्मों को नष्ट कर

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७४.

देती है। हमें यहाँ जैन-दर्शन और गीता में स्पष्ट विरोध प्रतिभासित होता है। जैन-विचारणा तप पर जोर देती है और गीता ज्ञान पर। लेकिन अधिक गहराई में जाने पर यह विरोध बहुत मामूली रह जाता है, क्योंकि जैनाचार-दर्शन में तप का मात्र शारीरिक या बाह्य पक्ष ही स्वीकार नहीं किया गया है, वरन् उसका ज्ञानात्मक एवं आंतरिक पक्ष भी स्वीकृत है। जैन-दर्शन में तप के वर्गीकरण में स्वाध्याय आदि को स्थान देकर उसे ज्ञानात्मक स्वरूप दिया गया है। यही नहीं, उत्तराध्ययन एवं सूत्रकृतांग में अज्ञानतप की तीव्र निन्दा भी की गई है।[1] अतः जैन विचारक भी यह तो स्वीकार कर लेते हैं कि निर्जरा ज्ञानात्मक तप से होती है, अज्ञानात्मक तप से नहीं। वस्तुतः निर्जरा या कर्मक्षय के निमित्त ज्ञान और कर्म (तप) दोनों आवश्यक हैं। यही नहीं, तप के लिए ज्ञान को प्राथमिक भी माना गया है।

पं० दौलतरामजी कहते हैं—

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरै जे।
ज्ञानी के दिन माहिं त्रिगुप्ति तै सहज टरै ते॥[2]

इस प्रकार जैनाचार-दर्शन ज्ञान को निर्जरा का कारण तो मानता है, लेकिन एकांत कारण नहीं मानता। जैनाचार-दर्शन कहता है मात्र ज्ञान निर्जरा का कारण नहीं है। यदि गीता के उपर्युक्त श्लोक को आधार मानें तो जहाँ गीता का आचार-दर्शन ज्ञान को कर्मक्षय (निर्जरा) का कारण मानता है, वहाँ जैन-दर्शन ज्ञान-समन्वित तप से कर्मक्षय (निर्जरा) मानता है, लेकिन जब गीताकार ज्ञान और योग (कर्म) का समन्वय कर देता है, तो दोनों विचारणाएँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं।

गीता पुरातन कर्मों से छूटने के लिये भक्ति को भी स्थान देती है। गीता के अनुसार यदि भक्त अपने को पूर्णतया निश्छल भाव से भगवान् के चरणों में समर्पित कर देता है तो भी वह सभी पुरातन पापों से मुक्त हो जाता है। गीता में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि "तू सब धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सभी पुरातन पापों से मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।"[3] यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो यहाँ जैन-दर्शन और गीता का दृष्टिकोण भिन्न है। जैन-दर्शन पुरातन कर्मों से मुक्ति के लिए उनका भोग अथवा तपस्या के

---

१. (अ) उत्तराध्ययन, ९।४४. (ब) सूत्रकृतांग, १।८।२४.
२. छहढाला, ४।५.
३. गीता, १८।६६.

द्वारा उनका क्षय—यह दो ही मार्ग देखता है। लेकिन गीता पुरातन कर्मों का क्षय करने के लिए न केवल ज्ञान एवं भक्ति पर बल देती है, वरन् वह जैन विचारणा में प्रस्तुत संयम और निर्जरा के अन्य विविध साधनों—इन्द्रिय-संयम एवं मन, वाणी तथा शरीर का संयम, एकान्त-सेवन, अल्प-आहार, ध्यान, व्युत्सर्ग (वैराग्य) आदि की भी विवेचना करती है। कहा गया है कि "हे अर्जुन ! विशुद्ध बुद्धि से युक्त, एकान्त और शुद्ध देश का सेवन करनेवाला तथा अल्प-आहार करनेवाला, जीते हुए मन, वाणी और शरीर वाला और दृढ़ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त पुरुष निरन्तर ध्यान-योग के परायण हुआ, सदैव वैराग्ययुक्त, अन्तःकरण को वश में करके तथा इन्द्रियों के शब्दादिक विषयों को त्यागकर और राग-द्वेषों को नष्ट करके तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रह को त्यागकर, ममतारहित और शान्त अन्तःकरण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के योग्य हो जाता है।"[१] यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो गीताकार के इस कथन में संवर और निर्जरा के अधिकांश तथ्य समाविष्ट हैं। यहाँ गीता का दृष्टिकोण जैन विचारणा के अत्यन्त समीप आ जाता है।

§ १०. निष्कर्ष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन बंधन से मुक्ति के लिये दो उपायों पर बल देते हैं—नवीन बंध से बचने के लिये संयम और पुरातन बंधन से छूटने के लिये तप, ज्ञान भक्ति या ध्यान। जहाँ तक संयम की बात है, तीनों आचार-दर्शन उसे लगभग समान रूप से स्वीकार करते हैं। तीनों के लिये संयम का अर्थ केवल इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध न होकर उसके पीछे रही हुई आसक्ति का क्षय भी है। जहाँ तक पुरातन कर्मों से छूटने के साधन का प्रश्न है जैन-दर्शन तप पर, बौद्ध-दर्शन ध्यान (चित्त-निरोध) पर तथा गीता ज्ञान एवं भक्ति पर अधिक बल देती है। लेकिन जैसा कि हमने देखा, जैन-दर्शन का तप ज्ञान समन्वित है तो गीता का ज्ञानमार्ग भी तप एवं संयम से युक्त है। बौद्ध-दर्शन का ध्यान भी जैन-दर्शन और गीता दोनों को ही स्वीकृत है। जो भी अन्तर प्रतीत होता है, वह शब्दों का है, मूलात्मा का नहीं। जैन-दर्शन में निर्जरा के साधन रूप जिस तप का विधान है, उसमें ज्ञान और ध्यान दोनों ही समाहित हैं। तीनों आचार-दर्शन साधक से यह अपेक्षा करते हैं कि वह संयम (संवर) के द्वारा नवीन कर्मो के बन्धन को रोककर तथा ज्ञान, ध्यान और तपस्या के द्वारा पुरातन कर्मो का क्षय कर परमश्रेय को प्राप्त करे।

---

१ गीता १८।५१-५३.